जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 1 • जनवरी, 2001

With best compliments from :

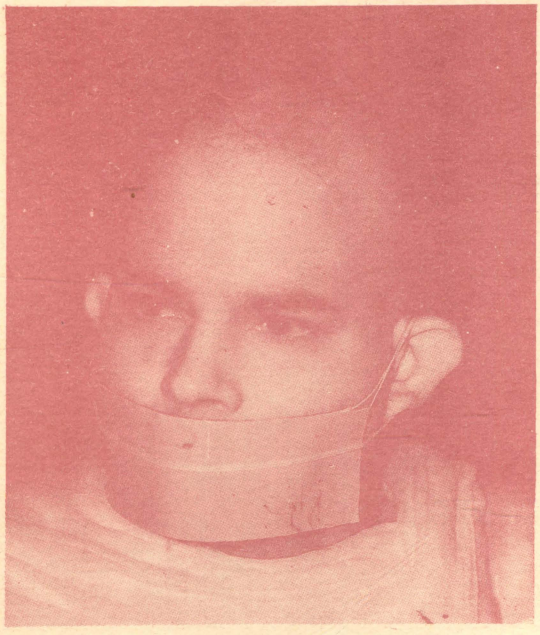

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg: Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

जनवरी, 2001 वर्ष 49 अंक 1 रु. 15.00

विमर्श

9
नन्दकिशोर आचार्य
आध्यात्मिक अर्थशास्त्र की प्रस्तावना

16
डॉ. बच्छराज दूगड़
उत्तर-आधुनिकता एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ

22
डॉ. राधाकृष्णन्
ज्ञान और प्रज्ञा

•

आवरण
अडिग
एवं
दीपचन्द

अनुभूति

25
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मर्यादा : अनुशासन का आधार

29
आचार्यश्री तुलसी
लोकतंत्र की मर्यादाएं

34
मुनि धनंजय कुमार
संप्रदायातीत चेतना

37
कहानी
कुंदनिका कापड़िया
प्रेम के आंसू

43
कविता
संजीव मिश्र की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
मर्यादा का मर्म

शीलन

47
समणी सत्यप्रज्ञा
अहं विलय : सहज जीवन का सूत्र

49
भावकथा
खलील जिब्रान
उत्सव

52
रपट
भवानी सोलंकी
बाहर का नहीं, अंदर का सौंदर्य बढ़े

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

जिसे हम धार्मिक-आध्यात्मिक मनोभाव कहते हैं, उसके मुख्य तत्व निम्न जान पड़ते हैं : एक उच्चतर गंतव्य अथवा परम श्रेय की धुंधली चेतना; इस दुनिया के मूल्यों की अपर्याप्तता की चेतना जो कि विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति के अनुसार न्यूनाधिक तीव्र होती है; फलतः अपने वर्तमान जीवन से असंतोष और उच्चतर लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा तथा प्रवृत्ति। इस लक्ष्य को ईश्वर, निर्वाण, पूर्णत्व अथवा मोक्ष आदि नामों से पुकारा जाता है। यह सर्वविदित है कि भारत के विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों में मोक्ष की विभिन्न धारणाएं पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए वेदांत और सांख्य के अनुसार मोक्ष का रूप एक है तथा न्याय-वैशेषिक के अनुसार दूसरा। रामानुज जैसे ईश्वरवादियों की मोक्ष-संबंधी धारणा भिन्न ही है। इसी प्रकार बौद्ध निर्वाण का आदर्श हिंदू धारणाओं से भिन्न है। मानवजीवन के चरम लक्ष्य के संबंध में यह मतभेद इस मंतव्य की पुष्टि करता है कि उस लक्ष्य के संबंध में हमारी जानकारी अधूरी है। हमारी समझ में जीवन का धार्मिक-आध्यात्मिक लक्ष्य मानवजीवन की वह उच्चतम संभावना है जिसकी किसी युग के सर्वाधिक संवेदनशील तथा विकसित व्यक्तियों अथवा विचारकों द्वारा कल्पना की जाती है।

—डॉ. देवराज

'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' से

श्रद्धा के युग में प्रत्येक मर्यादा की सुरक्षा अपने आप में होती है। तर्क के युग में वह सहज कार्यकर नहीं रहती। जिस स्थिति को जब बदलना चाहिए, वह ठीक समय पर बदल जाए तो परिमाण अच्छा आता है, और उसे आगे सरकाने का यत्न होता है तो वह बदलती अवश्य है, किंतु प्रतिक्रिया के साथ। सफल मर्यादा वही है जिसे पालने वालों की श्रद्धा प्राप्त हो। जिसके प्रति निभाने वालों का अधिकांश भाग अश्रद्धाशील हो, आलोचक हो, वह बहुत समय तक टिक नहीं सकती, और टिककर भी हित नहीं कर सकती। तार्किक दृष्टिकोण से न तो मर्यादाओं का पालन किया जा सकता और न ही कराया जा सकता है। उसका पालन करने वाला श्रद्धावान हो, हृदयवान हो, तभी निर्वाह हो सकता है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

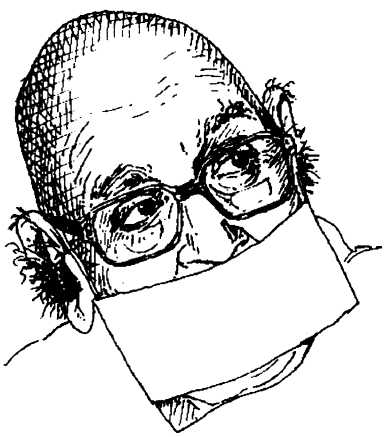

संसार में समारोह बहुत होते हैं, पर आज के युग में जबकि मर्यादा-विहीनता बढ़ती जा रही है, ऐसे समारोह की बहुत बड़ी अपेक्षा व आवश्यकता है, जिससे जीवन में मर्यादा की प्रभावना हो; क्योंकि मर्यादा मानव के विकास को बांधती नहीं, उसे वास्तविक गति देती है। आजादी के बाद लोग ऐसा समझने लगे कि हम पर अब अंकुश की आवश्यकता नहीं है, पर आजादी का मतलब मर्यादाहीन, निरंकुश और उच्छृंखल बन जाना नहीं है। यदि लोगों ने ऐसा समझा तो उन्होंने बड़ी भूल की है। आजादी में मर्यादा की और अधिक आवश्यकता है। होने वाला समारोह संघीय ऐक्य, अनुशासन व संगठन की मर्यादा का एक स्फूर्तिमय पाठ देता है इसलिए इसका नाम मर्यादा महोत्सव है। जैसा कि मेरा खयाल है, भारत में अपने ढंग का यह पहला समारोह है।

—आचार्यश्री तुलसी

पदाभिषेकोत्सव
हर्षाभिवंदना

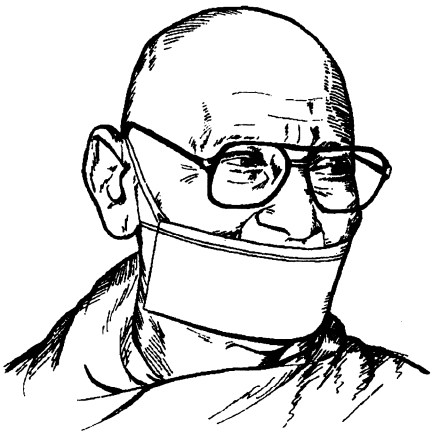

मैं भाग्यवादी नहीं हूं, किंतु भाग्य की सत्ता को अस्वीकार भी नहीं करता। मैं पुरुषार्थ में विश्वास करता हूं, किंतु विवेकशून्य पुरुषार्थ में विश्वास नहीं करता। मेरा सर्वाधिक विश्वास आत्मा की विशुद्धि में है, लेश्या की विशुद्धि या भावविशुद्धि में है। उस भावविशुद्धि ने गुरुदेव के मन में विश्वास के बीज बोए।

कोई भी छद्मस्थ मनुष्य औदयिक भाव से मुक्त नहीं होता। उसमें औदयिक भाव-जनित अल्पताएं, कमियां और स्खलनाएं भी होती हैं। पूर्ण होने का दावा न कभी मैंने किया और न आज भी करता हूं, किंतु भावविशुद्धि में अत्यधिक विश्वास रहा और मैं मानता हूं कि उस विश्वास ने ही गुरुदेव के मन में विश्वास उत्पन्न किया। अध्ययन, ज्ञानार्जन, चिंतन, लेखन—ये सब विश्वास उत्पन्न करते हैं, किंतु मेरी दृष्टि में भावविशुद्धि इन सबसे अधिक उर्वर विश्वास-भूमि है।

अहंकार और ममकार का विसर्जन अध्यात्म के प्राणिक स्पंदन हैं। आचार्य भिक्षु ने इन स्पंदनों को संयोजित कर तेरापंथ की प्रतिमा का निर्माण किया था। उस प्रतिमा की निरंतर प्रेक्षा करते रहें, यह पर्याप्त है सफल साधु या सफल साध्वी होने के लिए। जहां अहंकार नहीं है, वहां शेष बचती है विनम्रता। जहां ममकार नहीं, वहां शेष बचती है सहिष्णुता। ये व्यवहार-पुरुष के दो चक्षु हैं। इनका उपयोग साधु संस्था को चिरजीवी बनाता है। साधुता की संजीवनी को प्राप्त कर विकास की दिशा में हमारे चरण आगे बढ़ें, प्रकाश की उपलब्धि अपने आप होगी

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

'आचार्य पदाभिषेक पर प्रदत्त साक्षात्कार' से

जैन भारती
जनवरी, 2001

प्रसंग

मर्यादा का मर्म

स्वतंत्रता किसे सुखकर नहीं लगती, पर वे लोग जो स्वतंत्रता और स्वेच्छाचारिता में फर्क नहीं करते, उनके लिए स्वतंत्रता भी पग-पग पर अवसाद में परिणत होती रहती है। बाह्य तौर पर नजर आ रही ऐसी स्वतंत्रता अंतःमन के उल्लास में अवरोधक ही सिद्ध होती है। कहा जा सकता है कि जिसे हम स्वतंत्रता मानते हैं वह वास्तविक रूप में परतंत्रता ही है। मानवोचित गुणों के सहज-विकास में ये स्थितियां सहायक नहीं कही जा सकतीं। अलबत्ता हम स्वतंत्र अवश्य कहे जा सकते हैं। जो कि आज हैं भी।

हम स्वतंत्र तो बेशक हैं, पर मानवोचित गुणों के सहज विकास के तत्त्व जैसे कहीं फिसल कर छिटक गए हैं। स्वेच्छाचारिता अपनी हदों को उलांघती प्रतीत हो रही है। सामान्य व्यवहार से लेकर नीति-नियामकों के स्तर तक जो कुछ नजर आता है उसमें सामुदायिकता कम और स्वकेंद्रितता अधिक दिखाई देती है। यही वजह है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। इसी वजह से सामाजिक विषमता, जातीय-सांप्रदायिक वैमनस्य तथा आर्थिक-राजनीतिक विग्रह और विद्रूपताएं अजगर की तरह पसरते जा रहे हैं। इंसानी अस्मिता डांवाडोल हो रही है। असहाय और निरूपायता के घटाटोप में कोई किरण नजर नहीं आती।

नहीं! एक लौ टिमटिमा रही है। अंधेरी घाटियों को चीरती हुई यह लौ आज भी उन लोगों के लिए प्रकाश-पुंज है जो स्वतंत्रता और स्वेच्छाचारिता में अन्तर करते हैं, जो यह समझते हैं कि स्वतंत्रता का मूल्य मर्यादाहीनता से नष्ट होता है, जो यह समझते हैं कि स्वतंत्रता का मूल्य स्वकेंद्रितता से नष्ट होता है।

मर्यादामय और सामुदायिक जीवन जीने की एक अनुपम मिसाल आज भी विद्यमान है। यह मिसाल है तेरापंथ धर्म संगठन। नए ईसवी वर्ष के इस पहले महीने में इस संगठन का एक सौ सैंतीसवां मर्यादा महोत्सव है। यह बार-बार दोहराना प्रासंगिक माना जाएगा कि अकेला तेरापंथ संगठन है जो 'मर्यादा महोत्सव' जैसा आयोजन करता है।

स्वतंत्रता, मानवीय अस्मिता और सहजीवन तभी दीर्घकाल तक टिके रह सकते हैं जब जन-जन की अपनी कुछ मर्यादाएं हों और जो मर्यादाएं हों उन्हें बार-बार खंगालते रहें, मर्यादाएं किसी को जड़वत् तो नहीं बना रहीं—इसके प्रति सचेत रहा जाए। मर्यादाएं जीवन की गतिशीलता के लिए ईंधन-पानी का काम करें और वक्त की नब्ज को समझने की हिकमत भी दें—तभी वह सही अर्थों में अपना अभीष्ट सिद्ध कर सकती हैं। तेरापंथ की मर्यादाएं इस कसौटी पर आज तक खरी उतरी हैं। इसका विगत का इतिहास और वर्तमान स्वरूप इस बात की पुष्टि करता है। तकरीबन 240-41 सालों के तेरापंथ के इतिहास में अनेक झंझावात और दुरूहताएं भी सामने आईं। संप्रदायवाद व धर्मांधता के कसैलेपन की छाप भी इस पर चस्पा की गई, पर वस्तुस्थिति सामने है कि एक सांप्रदायिक संगठन के आधारभूत ढांचे में रहते हुए इस संगठन में वैचारिक नवोन्मेष के वातायन सदैव खुले रहे—सबके लिए खुले रहे। सामुदायिकता और सहजीवन का अपना वृहत्तर स्वरूप यह संगठन निरंतर सुदृढ़ करता चला गया।

तेरापंथ का यह 'मर्यादा महोत्सव' केवल मेला भर नहीं। जो लोग पहली बार इसे देखते हैं—वे अनकथ स्फूरणा से भर जाते हैं और जो लोग बार-बार देखते हैं वे समझ जाते हैं कि 'मर्यादा का मर्म' क्या है। कहीं यह 'कर्मकांड' सा भी लगता है, पर जो लोग यह जानते हैं कि हर पखवाड़े के आखिरी दिन अपनी मर्यादाओं का संवाचन 'कर्मकांड' नहीं, वह एक रेचन-क्रिया है जिससे अंदर के समूचे विकार सहज बाहर आ जाते हैं। तेरापंथ से जुड़े साधु-साध्वी जानते हैं कि हर पखवाड़े की इस क्रिया से वे किस तरह फिर से भट्टी की ताप से निखरे महसूस करते हैं। लेकिन तब भी कहीं इसमें 'कर्मकांड' सा भी किसी को प्रतीत हो सकता है। 'यह देखने वाले की अपनी दृष्टि है'—कह कर छोड़ देना 'वातायन' को बंद कर देना होगा, पर तेरापंथ ऐसा नहीं करता। यही वजह है कि अपनी मर्यादाओं पर तेरापंथ में आंतरिक बहस और विचार-विनिमय तो चलता ही है, सार्वजनिक स्तर पर भी हर विचार-चिंतन को सदाशयता से लिया जाता है और उन पर चर्चा की जा सकती है।

यहीं यह बात अधिक गंभीरता से समझनी आवश्यक हो जाती है कि मर्यादा के माध्यम से होने वाली 'रेचन-क्रिया' क्या हर एक संगठन के लिए अनिवार्य नहीं होनी चाहिए? दुर्भाग्य से अनेक तथाकथित प्रगतिगामी जन धर्म-संप्रदायों को इस तरह अछूत मान लेते हैं कि वे उन में होने वाली श्रेयस्-अनुकरणीय अथवा विचारणीय बातें भी नहीं देख पाते। अन्यथा तेरापंथ की मर्यादाएं, हर पखवाड़े उनका संवाचन और हर साल होने वाला मर्यादा महोत्सव हर व्यक्ति, संगठन या संस्थान के लिए विचारणीय होना चाहिए। वे स्वैच्छिक संगठन जो समाजहित या रचनात्मक कामों में लगे हैं, अथवा वे राजनीतिक संगठन भी जिनका कथनीय उद्देश्य वैयक्तिक स्वतंत्रता, समानता और जनसहभागिता है—क्या देखना वांछनीय नहीं कि इन उद्देश्यों को पाने के लिए आखिर कौन-से औजार उनके पास हैं?

दरअसल मर्यादा का उल्लंघन तभी होता है, जब वह थोपी हुई होती है। जो सहज स्वीकार्य नहीं होता वह कभी अंगीकार भी नहीं हो सकता। लेकिन स्वेच्छाचारिता को किसी सूरत में प्रश्रय भी नहीं दिया ज़ा सकता और सिर्फ इसलिए कि मर्यादाएं तो थोपी हुई ही होती हैं—ऐसी अवधारणा को भी विचारणीय नहीं माना जा सकता। जहां दायित्वशीलता का अहसास होता है वहां स्वेच्छाचारिता स्वतः विनष्ट हो जाती है। जिस तरह विनम्रता को दब्बूपन या गुलामी के दर्जे में नहीं रखा जा सकता, उसी प्रकार मर्यादाशील जीवन को किन्हीं हाथों में नियंत्रित हुआ नहीं माना जा सकता। वह एक सहजता है—बंधन नहीं।

स्वतंत्रता के ऐसे बाह्य स्वरूप से ही अंतःमन की सलिला को निर्बाध अवसर मिल सकता है। यही मर्यादा का वास्तविक मर्म है। मर्यादा का यही मर्म तेरापंथ की थाती है।

—शुभू पटवा

विमर्श

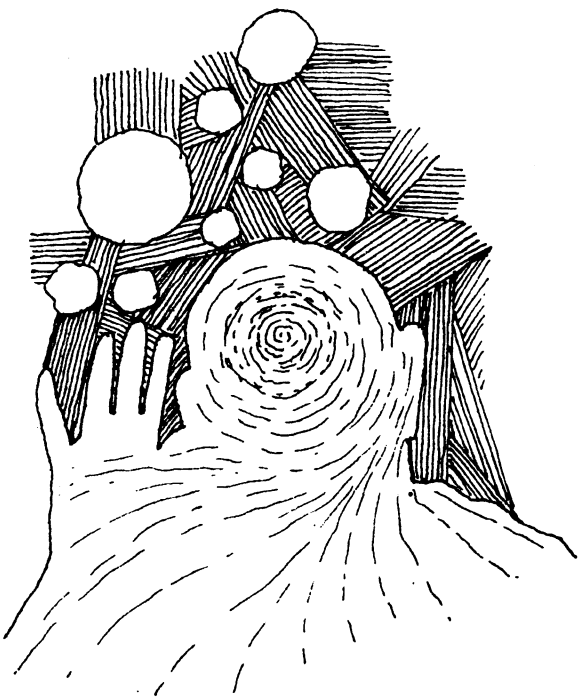

संस्कृति का अनिवार्य संबंध मूल्य-दृष्टि से होता है और अगर हम में संस्कृति की चेतना है अथवा जागती है तो उसका अर्थ केवल इतना नहीं है कि हम परंपरा से चले आए मूल्यों को पहचान लें और स्वीकार कर लें। चेतना केवल स्वीकार भाव नहीं है। मूल्य-दृष्टि की चेतना मूल्यों की अर्थवत्ता की अनवरत खोज की प्रक्रिया है। अर्थवत्ता की यह खोज मूल्यों की प्रत्यभिज्ञा तक ही सीमित नहीं रह सकती बल्कि उन का पुनर्मूल्यांकन और प्रमाणीकरण भी करती चलती है। दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी चेतनासंपन्न संस्कृति एक जिज्ञासुभाव अथवा प्रश्नाकुलता लिए रहती है। और प्रश्न पूछने का यह सामर्थ्य, इस आकुलता की मात्रा, उस की जीवंतता, उस के चैतन्य की माप हो सकती है। संस्कृति का विचार हम करें तो इस दृष्टि से अतीत-परंपरा का मूल्य आंकें, इसी दृष्टि से भविष्य का पथ-निर्धारण करें। तभी हम अपने वर्तमान को पहचान सकते हैं। बोधरहित वर्तमान भी है अवश्य— बाहर भौतिक जगत में बहुत कुछ घटित हो रहा है जिसे वर्तमान ही कहेंगे क्योंकि वह है; लेकिन 'वर्तमान' शब्द में ही बदलाव की पहचान का भी भाव निहित है। उस बदलाव के साथ हमारा संबंध क्या हो, कैसे हम केवल उसके साधन न बन कर उसे प्रभावित भी कर सकें, नियंता होकर उसे दिशा दे सकें, यह जानना ही संस्कृति की चेतना है।

—अज्ञेय

'खुले में खड़ा पेड़' से

आर्थिक उदारीकरण, वैश्वीकरण और विज्ञान व प्रौद्योगिकी के बढ़ते दबावों के इस दौर में यदि 'आध्यात्मिक अर्थशास्त्र' की बात कहीं होती है तो मानना होगा कि भारतीय संस्कृति व परंपरा की अपनी मौलिक दृष्टि और परख की कसौटी अभी विद्यमान है। देश के जाने-माने विचारक श्री नन्दकिशोर आचार्य ने आधुनिक तर्कों-विचारों को सामने रख, सत्य और अहिंसा पर गांधी के प्रयोगों को अपने चिंतन का आधार बना कर आधुनिक सभ्यता के संदर्भ में जो विचार किया, वह 'सभ्यता का विकल्प' (वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर) के रूप में कुछ अर्सा पहले बौद्धिक जगत के सामने आया। भगवान महावीर की 2600वीं जयंती के अवसर पर यह साल 'अहिंसा वर्ष' है और भारतीय गणतंत्र का स्वर्णजयंती वर्ष भी। इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर सत्य और अहिंसा पर आधारित व्यवस्था को समझने के लिए प्रस्तुत है श्री नन्दकिशोर आचार्य के विचार। दो किस्तों में दिए जाने वाले उनके आलेख की नए ईसवी वर्ष के पहले अंक में यह पहली कड़ी—

आध्यात्मिक अर्थशास्त्र की प्रस्तावना

❑ नन्दकिशोर आचार्य

> मैं यह नहीं मानता कि आध्यात्मिक नियम के प्रवर्तन का अपना कोई विशिष्ट क्षेत्र है। इसके विपरीत, वह जीवन के दैनंदिन क्रियाकलाप के माध्यम से ही स्वयं को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार यह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है।[1]
>
> **—महात्मा गांधी**

यदि आर्थिक प्रक्रिया को समग्र जीवनप्रक्रिया का ही एक अनिवार्य अंग मानें, जो कि मानना ही होगा—तो इसका एक निहितार्थ यह भी होगा कि किसी भी आर्थिक प्रक्रिया की वास्तविक सार्थकता और सफलता को आंकने में इस बात पर भी गौर करना अनिवार्य हो जाएगा कि मनुष्य की चेतना के समग्र संश्लिष्ट विकास पर उसका प्रभाव कैसा होता है। जीवन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, अतः आर्थिक पक्ष का असर जीवन के शेष पक्षों पर पड़ना स्वाभाविक ही है, लेकिन इसीलिए अर्थशास्त्र के लिए भी यह देखते रहना आवश्यक होना चाहिए कि वह जीवन की इस संश्लिष्ट प्रक्रिया में कोई सर्जनात्मक योगदान कर रहा है या नहीं—बल्कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि अनजाने ही सही, आर्थिक पक्ष का असर समग्र मानवीय विकास की दृष्टि से निषेधात्मक ही अधिक हो रहा हो!

अहिंसा या प्रेम का नियम यदि 'अस्तित्व का नियम' है तो मानवीय चेतना के विकास का एक निहितार्थ मनुष्य में अहिंसा का निरंतर विकास होगा और तब यह भी देखना होगा कि मानवीय आचरण और क्रियाशीलताओं में हर स्तर पर अहिंसा प्रतिबिंबित होती रहे। अहिंसा वस्तुतः एक सकारात्मक धारणा है और उसका उत्स पूरे जीवन के प्रति तात्त्विक ऐक्य के बोध से उत्पन्न भावात्मक आकर्षण, करुणा और लगाव की भावना में है और इसीलिए उसका क्षेत्र केवल मानसिक-आध्यात्मिक ही नहीं है, वह पूरे भौतिक जीवन को ही अपनी परिधि में से ले लेती है। इस दृष्टि से आर्थिक जीवन और प्रक्रिया को भी अहिंसा की परिधि के अंतर्गत ही समझना चाहिए।

लेकिन अर्थशास्त्र का अध्ययन करने वाले लोगों में अधिकांश संख्या उन लोगों की है जो आर्थिक जीवन को अपने ही स्वायत्त नियमों द्वारा संचालित मानते हैं और किसी प्रकार के मूल्यबोध के साथ उसका कोई अनिवार्य अंतस्संबंध नहीं मानते—बल्कि उनमें भी एक बड़ी संख्या तो यह मानने वालों की रही है कि आर्थिक जीवन और नैतिकता या मूल्यबोध तो अनिवार्यतः एक-दूसरे के विरोधी हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र के पिता कहे जाने वाले एडम स्मिथ को भी अंततः 'मोरल सेंटीमेंट्स' में उठाए नैतिक सवालों को दरकिनार कर 'वैल्थ ऑफ नेशंस' में यही मानना पड़ा कि

मनुष्य का आर्थिक जीवन और विकास उसकी बुनियादी स्वार्थ-वृत्ति से प्रेरित और नियंत्रित-निर्देशित है, इसलिए नैतिकता से उसका अनिवार्यतः विरोध का ही संबंध हो सकता है। 'मानवीय तत्त्व' तो उस विकास में परेशानी का कारण ही बनता है। नरहरि परीख ने इसीलिए आधुनिक अर्थशास्त्र के विकास को यूरोप द्वारा दुनिया की लूट के औचित्य को प्रतिपादित करने वाला शास्त्र कहा है : जिस रूप में और जिस पद्धति से आज इस विषय की चर्चा होती है, अर्थात् आज जिसे अर्थशास्त्र कहा जाता है, उसका जन्म और विकास पिछले तीन सौ वर्षों में हुआ है। यूरोप के लुटेरे राष्ट्रों ने सात समुद्र पार कर के व्यापार के नाम पर दुनिया भर में जो लूट मचाई उसी के साथ इस शास्त्र का जन्म हुआ है; और यूरोप में कारखानों और पूंजीवाद का जो विकास हुआ, उसी के साथ इस शास्त्र का विकास हुआ। इसलिए भयंकर अत्याचार, अन्याय और शोषण के साथ वर्तमान अर्थशास्त्र के जन्म और विकास का गहरा संबंध है। आर्थिक प्रगति के नाम पर यूरोप के अर्थशास्त्रियों ने यूरोप के राष्ट्रों के इस अत्याचार, अन्याय और शोषण का बचाव भी किया है।[2]

दरअसल, आधुनिक अर्थशास्त्र—और इसमें उसके पूंजीवादी और समाजवादी दोनों मुख्य रूप अपनी-अपनी सभी प्रशाखाओं सहित सम्मिलित हैं—इस बुनियादी भ्रम का शिकार है कि मनुष्य केवल उपभोक्ता है और इस उपभोग के लिए उसे उत्पादन करना और क्रयशक्ति को अर्जित करना पड़ता है। इसका एक आवश्यक परिणाम यह होता है कि 'आर्थिक वृद्धि' मनुष्य के उपभोग को निरंतर बढ़ाते रहने पर आश्रित हो जाती है। सच तो यह है कि अपने को नैतिकता-निरपेक्ष मानते हुए भी अर्थशास्त्र यहां नैतिक जगत में प्रवेश करता है—यद्यपि नैतिकता की संवृद्धि करने के लिए नहीं बल्कि उसका ह्रास करने के लिए—और उपभोग की वृद्धि को एक जीवन-मूल्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास करता है। वह केवल मांग की पूर्ति ही नहीं करता, नई मांगों की सृष्टि भी करता है—कृत्रिम मांगों की भी—क्योंकि उसके बिना आर्थिक प्रक्रिया का विकास रुकने लगता है, जिसका तात्पर्य होता है संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था का ढह जाना। 'जरूरत' और 'खपत' के सिद्धांतकार अल्फ्रेड मार्शल को भी यह मानना पड़ा था कि 'आर्थिक संगठन का उद्देश्य जरूरतों की पूर्ति करना ही नहीं, नई जरूरतों की सृष्टि करना भी है।' मार्शल के ही शब्दों में, 'यद्यपि अपने विकास के प्रारंभिक चरण में मनुष्य की जरूरतें ही उसे क्रियाशील करती हैं, किंतु अनंतर हर नया कदम नई जरूरतों के लिए नई क्रियाशीलता के बजाय ऐसी क्रियाशीलता के रूप में आता है जो नई जरूरतों को पैदा करती है।' मनुष्य को उपभोक्ता मान लेने और उसके उपभोग को बढ़ाते रहकर अपना विकास करती रहने वाली अर्थ-व्यवस्था ने बहुत-सी सामाजिक-राजनीतिक हिंसा तो की ही, साथ ही प्राकृतिक संसाधनों के प्रति भी उसका रुख अत्यंत हिंसक रहा है। पारिस्थितिकी और पर्यावरण की समस्याएं जीवन के प्रति लापरवाह अर्थ-व्यवस्था की ही देन हैं। शुमाकर जैसे संवेदनशील अर्थशास्त्री का यह सवाल अर्थशास्त्रीय दृष्टि से भी बेमानी नहीं है कि अपनी पूंजी को ही मुनाफा मान कर खाते रहना क्या किसी अर्थ-व्यवस्था की सफलता मानी जा सकती है : अगर कोई फर्म अपनी पूंजी को तेजी से खाती रहे तो कोई व्यवसाई नहीं कहेगा कि उस फर्म ने अपनी उत्पादन की समस्याओं का समाधान कर लिया है और वह लाभ कमाने की स्थिति में है। तो फिर हम इस बृहदाकार फर्म की, जिसे पृथ्वी कहा जाता है, अर्थ-व्यवस्था और विशेष रूप से धनी देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं के संबंध में आय व पूंजी के महत्त्वपूर्ण अंतर को अनदेखा कैसे कर सकते हैं? इस महत्त्वपूर्ण अंतर को अनदेखा करने का एक कारण यह है कि हम वास्तविकता से विमुख हो गए हैं और उन सभी चीजों को मूल्यहीन मानने लगे हैं जिन्हें हमने स्वयं नहीं बनाया है।[3] लेकिन इन सबके बावजूद आधुनिक अर्थशास्त्र न केवल बुनियादी आर्थिक सवालों का समाधान करने में असफल रहा है बल्कि बहुत-सी नई समस्याएं तो, जैसा कि प्रो. बैरी कॉमनर कहते हैं, 'प्रासंगिक असफलताओं के परिणाम नहीं

यह भली-भांति प्रमाणित है कि किसी भी तरह का केंद्रीकरण अनिवार्यतः मानवीय स्वतंत्रता का हनन करता और किसी न किसी प्रकार के अधिनायकवाद या सर्वसत्तावाद को जन्म देता है। दूसरी ओर, यह भी उतना ही सही है कि वर्तमान प्रौद्योगिकी पर आश्रित उत्पादन-प्रक्रिया और आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का केंद्रीकरण अवश्यंभावी है। इस प्रौद्योगिकी के लिए व्यापक पैमाने पर जिस तरह के नीति-निर्देशों और आर्थिक-स्रोतों पर एकाधिकार की ही नहीं, बल्कि बाजार पर भी अधिकाधिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है वह सत्ता के केंद्रीकरण की ओर उन्मुख है। इसका परिणाम होता है मनुष्य का राजनीतिक स्तर पर सर्वसत्तावादी होते जा रहे राज्य और आर्थिक स्तर पर पूंजी संस्थानों के सम्मुख अपने को असहाय और हीन अनुभव करना।

हैं, बल्कि प्रौद्योगिकीय सफलताओं के कारण पैदा हो रही हैं।' इसलिए ये प्रौद्योगिकीय सफलताएं भी हमें ये सवाल पूछने से नहीं रोक सकतीं : क्या यह अर्थव्यवस्था हमारी जरूरतों को कृत्रिम रूप से बढ़ाते रहे बिना जीवित रह सकती है ? क्या इन जरूरतों का निरंतर बढ़ते रहना और उनकी पूर्ति हमारे हिंसक हुए बिना संभव है—अपने आपके प्रति हिंसक और अपने सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश के प्रति हिंसक ?

महात्मा गांधी उन प्रारंभिक चिंतकों में हैं जिन्होंने बहुत पहले से इन सवालों की ओर मानव जाति का ध्यान आकर्षित करना शुरू कर दिया था। उन्होंने निश्चय ही आर्थिक सवालों पर एक औपचारिक अर्थशास्त्री की तरह क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया। इसके बावजूद उनके बिखरे हुए विचार-सूत्रों में आर्थिक समस्याओं के प्रति एक अद्‌भुत जागरूकता दिखाई देती है—एक महान अर्थशास्त्री जैसी जागरूकता—और विभिन्न समस्याओं पर उनके अक्रमबद्ध चिंतन में भी एक अद्‌भुत आंतरिक संगति है—तार्किक और नैतिक संगति। इसका कारण शायद यही है कि उनका सारा चिंतन अहिंसा धर्म—प्रेम के नियम—से प्रेरित होने के कारण समस्त जीवन को और इसलिए आर्थिक जीवन को भी उसी की कसौटी पर जांचता और उसी की परिधि में ले लेता है।

इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि महात्मा गांधी आधुनिक अर्थशास्त्र की इस प्रारंभिक प्रतिज्ञा से ही सहमत नहीं होते हैं कि मनुष्य मूलतः एक उपभोक्ता प्राणी है और इसलिए अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र से कोई संबंध नहीं है। महात्मा गांधी की दृष्टि में मनुष्य होने का मतलब ही नैतिक होना है—और यह बात बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि उनके लिए 'नैतिक में आध्यात्मिक समाविष्ट' है—इसलिए उसके जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं हो सकता जहां वह नैतिक सवालों से उदासीन रह सके—उपभोग करते समय भी और उत्पादन करते या उस उत्पादन को बाजार में उपभोक्ता तक पहुंचाते समय भी। इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्र का ध्यान जहां सदैव एक निर्वैयक्तिक और काल्पनिक उपभोक्ता पर रहता है जिसके नैतिक उत्कर्ष-अपकर्ष से उसका कोई लेना-देना नहीं है, वहीं गांधीजी के चिंतन का केंद्र एक वास्तविक मनुष्य है जिसके नैतिक ही नहीं, भौतिक कल्याण से भी उनका गहरा संबंध है—बल्कि भौतिक कल्याण और नैतिक कल्याण को अलग-अलग करके देखना भी उनके लिए संभव नहीं है। इसीलिए एडम स्मिथ और उसके परवर्तियों की भांति अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र को अलग-अलग मानना भी उन्हें उचित नहीं लगता : मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच कोई सुस्पष्ट या किसी अन्य प्रकार का भेद नहीं करता। वह अर्थशास्त्र अनैतिक और इसीलिए पापयुक्त है जो किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के नैतिक कल्याण को क्षति पहुंचाता हो। तदनुसार वह अर्थशास्त्र पापयुक्त है जो यह अनुमति देता है कि एक देश दूसरे देश को लूट ले। शोषित श्रम द्वारा तैयार की गई वस्तुओं को खरीदना और उनका इस्तेमाल करना पापयुक्त है।[4] एक अन्य अवसर पर वह स्पष्ट कहते हैं : सच्चा अर्थशास्त्र कभी उच्चतम नैतिक मानकों का विरोधी नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि सच्चा नीतिशास्त्र वही माना जा सकता है जो नीतिशास्त्र होने के साथ-साथ अच्छा अर्थशास्त्र भी हो। वह अर्थशास्त्र झूठा और निराशाजनक है जो कुबेर की पूजा को प्रश्रय देता हो और शक्तिशाली लोगों को दुर्बल लोगों की कीमत पर धन का संचय करने में मदद करता है। वह तो मौत का पैगाम है। इसके विपरीत, सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय सुनिश्चित करता है, दुर्बलतम व्यक्तियों सहित सबकी भलाई को बढ़ावा देता है और ढंग की जिंदगी जीने के लिए अपरिहार्य होता है।[5]

मनुष्य को मूलतः एक नैतिक प्राणी मानने के ही कारण गांधीजी उपभोग में भी उसमें नैतिक मूल्यों के निर्वहन की अपेक्षा करते हैं। जब वह कहते हैं कि 'शोषित श्रम द्वारा तैयार की गई वस्तुओं को खरीदना और उनका इस्तेमाल करना पापयुक्त है' तब वह उपभोक्ता को भी एक सत्याग्रही बनने का आमंत्रण देते हैं क्योंकि उसके द्वारा शोषित श्रम से तैयार वस्तुओं का बहिष्कार भी शोषण के विरुद्ध एक कारगर अस्त्र प्रमाणित हो सकता है। जब वह उपभोक्ता को अपरिग्रह का परामर्श देते हैं तब यह अपरिग्रह न केवल स्वयं उसे उपभोक्तावाद के विचारों से बचाता है बल्कि अनावश्यक उत्पादन और उपभोग के कारण हो रही प्राकृतिक संसाधनों की हिंसक बर्बादी और समाज में बढ़ रही विलासिता और उसके कारण बढ़ रही अनावश्यक आर्थिक होड़ को भी नियंत्रित करता है। यदि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है तो उसे उपभोग की वस्तुओं के परिग्रह और संपत्ति के नैतिक प्रयोजन पर भी विचार करना चाहिए। इसीलिए गांधीजी मानते हैं कि जो वस्तु अधिकांश लोगों को उपलब्ध नहीं है, उसका भोग करने से हमें दृढ़तापूर्वक इनकार कर देना चाहिए। अपनी जरूरत से अधिक का संग्रह एक प्रकार की चोरी है क्योंकि वह किसी अन्य को उस वस्तु से वंचित रखना है। इसीलिए महात्मा गांधी के लिए 'सभ्यता, सही अर्थों में आवश्यकताओं के बहुलीकरण में निहित नहीं है बल्कि उनमें सोच समझ कर स्वैच्छिक रूप से कमी करने में है।[6] निजी उपभोग के लिए संपत्ति-निर्माण को भी गांधीजी पाप मानते हैं क्योंकि उसके पीछे गरीबों का शोषण है। वह बार-बार ईसा के कथन की याद दिलाते हैं कि धनवान के लिए

स्वर्ग के साम्राज्य में प्रवेश पाने की अपेक्षा ऊंट का सुई के छेद से गुजर जाना ज्यादा आसान है। भारत के अमीरों के बारे में भी यह तीखे स्वरों में कहते हैं : भारत में जितने महल दिखाई देते हैं, वे उसकी अमीरी के नहीं बल्कि अमीरी के कारण थोड़े-से लोगों को मिली शक्ति की धृष्टता के प्रतीक हैं; इन महलों को अमीरों ने भारत के लाखों कंगालों की मेहनत का नाम-मात्र का मुआवजा देकर खड़ा किया है।[7]

यहां यह स्मरणीय है कि गांधीजी जब अपरिग्रह की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य स्वेच्छापूर्वक त्याग से है, गरीबी के जीवन से नहीं। गरीबी को गांधीजी कभी अच्छी बात नहीं मानते—यह ठीक उसी प्रकार है जैसे वह ब्रह्मचर्य को तो महत्त्व देते हैं पर नपुंसकता को नहीं, क्योंकि उनके लिए असली महत्त्व संयम और त्याग का है। अपरिग्रह स्वेच्छापूर्वक किया गया त्याग होने के कारण वरदान है, जबकि गरीबी विवशता होने के कारण अभिशाप। गांधीजी गरीबी की विवशता को इसलिए भी अभिशाप मानते थे कि वह मनुष्य का नैतिक पतन करती है। उन्हीं के शब्दों में : 'गरीबी में पिसते रहने पर भी कोई नैतिक अधःपतन से बच सकता है, ऐसा किसी ने कभी नहीं कहा।'[8] दूसरी ओर वह सम्पत्ति के निजी संचय को गरीबों के भौतिक और नैतिक पतन के लिए उत्तरदाई ठहराने के साथ-साथ स्वयं अमीरों के लिए भी नैतिक दृष्टि से हानिकारक ठहराते हैं : 'निजी व्यक्तियों द्वारा पूंजी का संचय हिंसक तरीकों को अपनाए बिना संभव नहीं है...किसी भी व्यक्ति को समाज के अन्य सदस्यों की सहायता या सहयोग से भौतिक अथवा आध्यात्मिक पूंजी का संचय करके उसे अपने निजी लाभ के लिए इस्तेमाल करने का नैतिक अधिकार नहीं है।'[9] कुछ लोगों ने जब उनसे कहा कि अमरीकी तरीकों को अपनाए बिना भी अमरीका की तरह धनवान हुआ जा सकता है तो गांधीजी का जवाब था : 'मैं साहसपूर्वक कहना चाहता हूं कि यदि कभी ऐसा प्रयास किया गया तो इसकी असफलता अवश्यंभावी है। हम एक साथ ही 'बुद्धिमान, संयत और क्रोधोन्मत्त' नहीं हो सकते।'[10] जो लोग गांधीजी को पूंजीपतियों के प्रति उदार कहते हैं, वे शायद यह नहीं देख पा रहे हैं कि गांधीजी निजी लाभ के लिए पूंजी संचय करने वालों को अनिवार्यतः अनैतिकता यानी अधर्म में लिप्त समझते हैं। गांधीजी के शब्दकोश में पाप या अधर्म से कठोर और कोई शब्द नहीं हो सकता। गरीबी दूर करने के लिए उनके मन में कितनी गहरी छटपटाहट है, इसे केवल इस बात से जाना जा सकता है कि आध्यात्मिकता को जीवन की सार्थकता की कसौटी मानने वाले महात्मा गांधी यहां तक कह देते हैं कि 'दरिद्रों के लिए आर्थिक ही आध्यात्मिक है।'[11] एक क्रांतिकारी आवेश के साथ वह कहते हैं : 'अच्छा नाश्ता करके और बढ़िया खाने का इंतजार करते हुए यहां बैठ कर ईश्वर के बारे में चर्चा की जा सकती है, पर मैं उन लाखों लोगों से ईश्वर के बारे में चर्चा कैसे करूं जिन्हें दिन में दो बार रोटी भी नहीं मिलती? उनके लिए तो ईश्वर रोटी और मक्खन के रूप में ही प्रकट हो सकता है।'[12] स्पष्ट है कि शोषण और गरीबी को मिटाने के लिए प्रयास करना भी गांधीजी के लिए एक आध्यात्मिक प्रकृति का कार्य है—यद्यपि वह यह भी जानते हैं कि आर्थिक समानता के बिना अहिंसक स्वाधीनता भी संभव नहीं है बल्कि 'आर्थिक समानता अहिंसक स्वाधीनता की सर्वकुंजी (मास्टर की) है।'[13]

लेकिन इस आर्थिक समानता को स्थापित करना इतना आसान नहीं है। महात्मा गांधी इस बात को अच्छी तरह पहचानते हैं कि केवल वैयक्तिक अपरिग्रह के लिए लोगों को प्रेरित करने मात्र से यह संभव नहीं होगा, यद्यपि इससे एक अनुकूल वातावरण अवश्य बन सकता है। इसलिए वह वैयक्तिक अपरिग्रह के साथ-साथ पूरी आर्थिक प्रक्रिया में ऐसे मूल्यगत और संरचनागत सुधारों का प्रस्ताव करते हैं जिससे परिग्रह या संपत्ति के केंद्रीकरण की संभावना ही न रहे और साथ ही सभी का भौतिक ही नहीं, नैतिक कल्याण भी हो सके।

इस दृष्टि से महात्मा गांधी का ध्यान सबसे पहले उत्पादन-पद्धति अर्थात् प्रौद्योगिकी की ओर जाता है। महात्मा गांधी के लिए साधारणतया यह कहा जाता रहा है कि वह मशीनों के बहुत विरोधी थे। स्वयं गांधीजी के ऐसे वक्तव्य मिल जाते हैं जिनमें उन्होंने मशीनों का त्याग करने का स्पष्ट आग्रह किया है; लेकिन, दूसरी ओर, कुछ ऐसे वक्तव्य भी मिलते हैं, जिनमें वह एक सीमा तक मशीनों को स्वीकार करते हैं। दरअसल, इस बारे में गांधीजी के मंतव्य को जानने के लिए हमें उनके अहिंसा के सिद्धांत की दृष्टि से विचार करना चाहिए।

आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया और आर्थिक विकास एक भारी और जटिल प्रौद्योगिकी पर निर्भर करता है। उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि और उसके लिए अधिक से अधिक कुशल और शक्तिशाली प्रौद्योगिकी की आवश्यकता होती है। लेकिन आर्थिक विकास को पूर्णतया मशीनों पर निर्भर कर देने का अर्थ उत्पादन प्रक्रिया और आर्थिक जीवन को अमानवीय नियंत्रण में कर देना है। सामान्यतः मनुष्य यही सोचता है कि यंत्रोद्योग उसके नियंत्रण में है और वह अपनी इच्छा के अनुसार उनका उपयोग कर सकता है, लेकिन यंत्रों और प्रौद्योगिकी की अपनी वृत्ति और प्रक्रिया होती है और वह एक ऐसा दुश्चक्र होता है जिससे बचना संभव नहीं रहता।

प्रौद्योगिकीय नियतिवाद—टेक्नोलाजिकल डिटरमिनिज्म—आधुनिक युग की एक ऐसी समस्या है जिसने बहुत-से अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया है। आधुनिक प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ भी एक अनिवार्य हिंसा का रिश्ता रखती है। उसका पेट भरने के लिए अधिकाधिक प्राकृतिक साधनों की आवश्यकता होती है जो निरंतर बढ़ती ही जा रही है तथा उसके भंडार में इतनी तेजी से आ रही कमी को पूरा करने का कोई उपाय नहीं है। यदि इन साधनों का प्रयोग कम कर दिया जाता है तो यह प्रौद्योगिकी घाटा देने लगती है और तब उस वांछित आर्थिक विकास की दृष्टि से अनुपयोगी हो जाती है जिसके लिए उसका विकास और स्थापन किया गया है। यही नहीं, इस प्रौद्योगिकी के कारण पर्यावरण में जिस तरह का रासायनिक प्रदूषण फैल रहा है, वह धीरे-धीरे केवल मनुष्य जाति को ही नहीं, पूरे जीवन को नष्ट कर देने की आशंका पैदा करता जा रहा है।

यह भली-भांति प्रमाणित है कि किसी भी तरह का केंद्रीकरण अनिवार्यतः मानवीय स्वतंत्रता का हनन करता और किसी न किसी प्रकार के अधिनायकवाद या सर्वसत्तावाद को जन्म देता है। दूसरी ओर, यह भी उतना ही सही है कि वर्तमान प्रौद्योगिकी पर आश्रित उत्पादन-प्रक्रिया और आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का केंद्रीकरण अवश्यंभावी है। इस प्रौद्योगिकी के लिए व्यापक पैमाने पर जिस तरह के नीति निर्देशों और आर्थिक-स्रोतों पर एकाधिकार की ही नहीं, बल्कि बाजार पर भी अधिकाधिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है वह सत्ता के केंद्रीकरण की ओर उन्मुख है। इसका परिणाम होता है मनुष्य का राजनीतिक स्तर पर सर्वसत्तावादी होते जा रहे राज्य और आर्थिक स्तर पर पूंजी संस्थानों के सम्मुख अपने को असहाय और हीन अनुभव करना। एक श्रमिक के रूप में भी वह यंत्रोद्योग के सम्मुख अपने को बौना और अनुपयोगी अनुभव करता है, जिसका सीधा मनोवैज्ञानिक परिणाम यह होता है कि पहल ले सकने की मनोवृत्ति निरंतर क्षीण होती चली जाती है और उसमें अंतर्निहित सृजनात्मक उत्कर्ष की सारी संभावनाएं कुंठित होने लग जाती हैं। कार्ल फ्रेडरिक और ब्रजेजेंस्की जैसे समाज वैज्ञानिकों का अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि अधिनायकतंत्रीय और सर्वसत्तावादी शासन-व्यवस्था के लिए संचार-व्यवस्था, अस्त्र-शस्त्र तथा आर्थिक जीवन पर केंद्रीय नियंत्रण आवश्यक है और वह किसी न किसी प्रकार के केंद्रीकृत प्रौद्योगिक आधार के बिना संभव नहीं है। दूसरी ओर, एरिक फ्रॉम जैसे मनोवैज्ञानिकों की राय में इस प्रौद्योगिकी-आश्रित उत्पादन व्यवस्था में मनुष्य स्वयं एक वस्तु जैसा हो जाता है और अपने को असमर्थ, अकेला और उद्विग्न अनुभव करता है। इसलिए मशीनों के प्रति गांधीजी की मनोवृत्ति को अहिंसा के आधार पर समझने की जरूरत है। जो यंत्र मनुष्य की स्वाधीनता, स्वास्थ्य और नैतिक विकास के लिए घातक हों, उन्हें गांधीजी किसी भी तरह स्वीकार नहीं कर सकते। दरअसल, गांधीजी कार्ल मार्क्स की इस स्थापना को एक नया नैतिक आयाम दे देते हैं कि अंततः उत्पादन के साधनों पर ही सामाजिक अधिरचना निर्भर होती है। यदि हम पूंजीवाद और साम्यवाद के कथित द्वन्द्व के आवेश से थोड़ा अलग हटकर विचार करें तो पाएंगे कि ये दोनों आधुनिक प्रौद्योगिकी से उत्पन्न उद्योगीकरण की ही दो प्रक्रियाएं हैं। उन्हें वास्तविक अर्थों में दर्शन या विचारधारा कहना उचित नहीं होगा। दर्शन या विचारधारा तो स्वयं प्रौद्योगिकी और उससे उत्पन्न उद्योगवाद है जिसका आधार इस मान्यता में है कि दुनिया की सभी समस्याओं का हल उत्पादन और इसलिए उपभोग की भी निरंतर वृद्धि में है। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इस उत्पादन और उसके वितरण पर बाजार-सत्ता का नियंत्रण रहता है या राज्य सत्ता का। बाजार सत्ता भी अंततः राजसत्ता को अपने अनुकूल कर वांछित कानूनों और राजनीतिक प्रक्रिया का समर्थन-सहयोग अपने लिए जुटाती ही है। उत्पादन वृद्धि और उसके लिए आधुनिकतम मशीनों और प्रबंधन का विकास उद्योगीकरण की अनिवार्य प्रक्रिया है जिसे पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों ही पूरी तरह स्वीकार करते हैं। इसे लेकर पूंजीवाद और साम्यवाद में कोई राजनीतिक संघर्ष कभी नहीं रहा कि यह अंधाधुंध मशीनीकरण मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए कितना घातक हो सकता है। मानवीय स्वतंत्रता का जैसा दमन सर्वसत्तावादी समाजवाद के नाम पर हुआ, वैसा ही पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद के द्वारा ही नहीं, औद्योगिक विकासवाद के नाम पर भी किया। स्थानीय समाजों का विनाश प्रगति या विकास की एक अनिवार्य शर्त रही।

यह ध्यान देने की बात है कि पूंजीवादी और सोवियत समाजों में न तो उत्पादन के उपकरणों और पद्धति में कोई बुनियादी अंतर था और न उनके प्रबंधन में। उन्नीसवीं शती के अंत में एक अमरीकी इंजीनियर फ्रेडरिक विनस्लो टेलर ने 'वैज्ञानिक प्रबंधन' नाम की प्रबंधन तकनीक का विकास किया था जिसकी मूल मान्यता थी कि एक मजदूर से काम लेते हुए उस पर उन्हीं सिद्धांतों को लागू किया जाना चाहिए जो एक मशीन के पुर्जे पर लागू होते हैं। यह घनघोर पूंजीवादी मान्यता कही जा सकती है। बहुत-से समाजवादी मित्रों को शायद यह जानकर धक्का लगे कि लेनिन के मंतव्य से यह 'वैज्ञानिक प्रबंधन' न केवल पूंजीवादी विकास का सही रास्ता था, बल्कि समाजवादी उत्पादन व्यवस्था की समस्याओं का

भी एकमात्र समाधान था। यही कारण था कि जिस लेनिन ने क्रांति के पूर्व उत्पादन व्यवस्था मजदूरों को सौंपने की बात कही थी, उसने क्रांति के बाद स्पष्ट कर दिया कि उत्पादन-प्रबंधन की जिम्मेदारी मजदूरों को नहीं बल्कि राज्य के नौकरशाहों की है। पूंजीवादी व्यवस्था भी तो नौकरशाह ही नियुक्त करती है। दरअसल, लेनिन चाह कर भी कुछ और नहीं कर सकते थे क्योंकि जिस प्रौद्योगिकी का चुनाव उन्होंने किया, उसकी यही अनिवार्यता थी। किसी भी प्रौद्योगिकी की राजनीति इस पर निर्भर करती है कि उसका पैमाना क्या है। यदि प्रौद्योगिकी मनुष्य से बड़ी सत्ता हो जाती है तो वह अपने लिए मनुष्य की स्वतंत्रता का दमन, उसकी शक्तियों का शोषण और उसकी गरिमा का हनन करती है। जिस आधुनिक प्रौद्योगिकी को पूंजीवादी और समाजवादी दोनों अपनाते रहे हैं, उसका पैमाना मनुष्य से बहुत बड़ा है, इसलिए वह न केवल मनुष्य का शोषण-दमन करेगी बल्कि उसके मानवीय गुणों का भी हनन करेगी ही। इसीलिए जहां तक मनुष्य के शोषण-दमन-उत्पीड़न का सवाल है, पूंजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं में कोई फर्क नहीं रहा। दोनों ही व्यवस्थाओं में झूठ, घृणा, डर और लालच बुरी तरह पनपे। एक में उनका विकास मालिकों और उनके वफादार प्रबंधकों में अधिक दिखाई दिया तो दूसरे में पार्टी नेतृत्व और नौकरशाही में। दोनों ही व्यवस्थाएं सामान्य नागरिक को निरंतर आतंक, असुरक्षा और तनाव में रखती हैं चाहे उनका स्वरूप कुछ भिन्न भी क्यों न हो। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों व्यवस्थाओं का बीज आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आश्रित औद्योगिक विकासवाद, जिसे गांधीजी 'उद्योगवाद' कहते थे, में है। कार्ल मार्क्स की सर्वाधिक अंतर्दृष्टिपूर्ण स्थापना शायद यही है कि उत्पादन के उपकरण अर्थात् प्रौद्योगिकी ही वह आधार है जिस पर आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक-सामाजिक अधिरचना की इमारत खड़ी होती है। यदि हम थोड़ी देर के लिए इस दार्शनिक बहस में न भी पड़ें कि प्रौद्योगिकी हमारी मानसिकता का निर्माण करती है या हम अपनी मानसिकता के अनुसार प्रौद्योगिकी का चुनाव और विकास करते हैं, तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि एक बार विशेष प्रकार की प्रौद्योगिकी को चुन लेने के बाद समाज की मानसिकता और संस्थाओं की वह नियंता होने लगती है। यदि हम यह नहीं भी मानें कि प्रौद्योगिकी ही हमारे मानसिक और संस्थागत बदलाव का एकमात्र निर्धारक तत्त्व है, तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वह हमारे जीवन को प्रभावित करने वाला महत्त्वपूर्ण—शायद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण—घटक है जिसकी कतई अनदेखी नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि प्रौद्योगिकी स्वयं में एक अर्थनीति और राजनीति ही नहीं, एक जीवन-शैली भी है।

प्रौद्योगिकी की इस भूमिका को महात्मा गांधी ने भी गहराई से पहचाना था—यद्यपि उनकी मान्यता यह थी कि उसका चुनाव और विकास हम अपनी मनोवृत्ति के कारण करते हैं। मशीनीकरण इसीलिए उनके विचार में हमारी लालची मानसिकता का परिणाम है, यद्यपि एक बार जब हम इसे अपना लेते हैं तो लगातार एक दुश्चक्र में फंसते जाते हैं और धीरे-धीरे उसे तोड़ना भी उतना ही मुश्किल होता जाता है। एक अर्से से हमारे बहुत-से सदाशयी राजनीतिक विश्लेषक गांधीजी और कार्ल मार्क्स को एक-दूसरे के बरक्स रखने या दोनों का समन्वय करने का प्रयास करते रहे हैं। ये दोनों ही प्रयास बुनियादी रूप से भ्रांतिपूर्ण रहे हैं। पूंजीवाद और साम्यवाद के द्वंद्व से पीड़ित वातावरण में गांधीजी और मार्क्स को आमने-सामने करके बहुत-से लोग गांधीजी को पूंजीवादी किस्म की मुक्त अर्थव्यवस्था के समर्थन में घसीट लाने का कुप्रयास करते रहे हैं। दूसरी ओर, गांधीजी और मार्क्स के समन्वय का प्रयास करने वाले आधुनिकतावादी प्रौद्योगिकी और केंद्रीकरण के साथ गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत को मिलाने की कोशिश करते रहे हैं—यह भूल जाते हुए कि यह प्रौद्योगिकी और केंद्रीकरण अनिवार्यतया अहिंसा के भाव के शत्रु हैं। साम्यवादी असफलता ने यह बात अब बिल्कुल स्पष्ट कर दी है कि पूंजीवादी तौर-तरीकों को अपना कर हम उससे नहीं जीत सकते। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि असली संघर्ष राजनीतिक विचार के क्षेत्र में नहीं बल्कि 'अस्तित्व के नियम' अर्थात् प्रेम और शक्ति के बीच और इन नियमों से प्रसूत प्रौद्योगिकियों के क्षेत्र में है।

इसलिए मुझे लगता है कि आर्थिक समानता की विचारधारा के पक्षधर साम्यवाद की असफलता का मुख्य कारण यही रहा कि उसने अपनी सामाजिक-राजनीतिक संरचना को उत्पादन के पूंजीवादी साधनों पर ही आधारित करना चाहा। यदि उसे एक वर्गहीन या न्यायपूर्ण समाज की रचना करनी थी तो उसके लिए उत्पादन के नए साधनों, नई प्रौद्योगिकी के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए था। आखिर पूंजीवादी 'बेस' पर साम्यवादी 'सुपरस्ट्रक्चर' कब तक खड़ा रह सकता था?

इस दृष्टि से गांधीजी की दृष्टि मार्क्स की अपेक्षा अधिक नैतिक ही नहीं, अधिक वैज्ञानिक भी है। गांधीजी ने यदि इस सभ्यता को 'शैतानी सभ्यता' कहा तो उसके पीछे उनकी यह समझ भी काम कर रही थी कि यह सभ्यता जिस प्रौद्योगिकी पर आश्रित है, उसका अनिवार्य परिणाम एक

हिंसक और अनैतिक समाज का विकास है क्योंकि यह प्रौद्योगिकी न केवल मनुष्य को उपभोक्ता मात्र बना देने पर जोर देती है बल्कि अनिवार्यतः सत्ता के विभिन्न रूपों के केंद्रीकरण की ओर ले जाती है और केंद्रीकरण अनिवार्यतः हिंसा की ओर।

इस ऐतिहासिक नियति में कोई भी परिवर्तन तभी संभव हो सकता है जब हम अपने को इतिहास के प्रवाह में न छोड़कर उसके कारणों को समझते हुए उसे अनुकूल रुख देने की कोशिश करें और यह केवल तभी संभव हो सकता है जब हमारे उद्देश्य और हमारे राजनीतिक-आर्थिक साधन दोनों धर्मपूर्ण हों। गांधीजी के साथ-साथ प्रारंभिक मार्क्स ने भी यह माना था कि वह साध्य न्यायपूर्ण नहीं है जिसके लिए अन्यायपूर्ण साधन की आवश्यकता पड़े।[14] यदि हम एक न्यायपूर्ण और अहिंसक समाज का विकास करना चाहते हैं तो हमें इन उद्देश्यों के अनुरूप जीवन-दृष्टि का ही नहीं, एक अहिंसक और न्यायपूर्ण तकनीकी का, उत्पादन के अहिंसक और न्यायपूर्ण साधनों का भी विकास करना होगा।

लेकिन यह केवल छोटे पैमाने और बड़े पैमाने की प्रौद्योगिकी का ही सवाल नहीं है बल्कि एक सार्वभौमिक प्रौद्योगिकी और स्थानीय या स्वदेशी प्रौद्योगिकी का भी है। हर स्थान की जरूरतों को पूरा करने के लिए उनके अपने संसाधन होते हैं और वास्तविक अर्थों में स्वदेशी प्रौद्योगिकी वह है जो इन संसाधनों का सही विनियोग कर सके। हम कह सकते हैं कि जरूरतें सार्वभौमिक होती हैं, इसलिए उनको पूरा करने में जुटी प्रौद्योगिकी भी सार्वभौमिक क्यों नहीं होगी? लेकिन जरूरतों का स्वरूप स्थानीय होता है और इसलिए उनकी पूर्ति भी देसी प्रौद्योगिकी से ही हो सकती है। सार्वभौमिक प्रौद्योगिकी वस्तुतः पहले स्थानीय स्वभाव की जरूरतों को सार्वभौमिक स्वरूप में बदलती है और तब उन्हें सार्वभौमिक संसाधनों से पूरा करने का दावा करती है। यही कारण है कि उपभोक्ता का वस्तु के उत्पादन, प्रबंधन और कीमत पर किसी तरह का नियंत्रण नहीं रहता।

इसलिए आज की दुनिया का असली आर्थिक द्वंद्व स्वदेशी और सार्वभौमिक प्रौद्योगिकी तथा विकेंद्रीकरण और केंद्रीकरण के बीच है। प्रत्येक प्रौद्योगिकी की अपनी राजनीति होती है, इसलिए हमारी राजनीतिक संरचना भी मुख्यतः प्रौद्योगिकी के चुनाव से तय होती है। आधुनिक प्रौद्योगिकी में आस्था रखने वाले दो दलों में यदि कोई संघर्ष होता है तो वह एक कृत्रिम संघर्ष है—इस अर्थ में कि उससे एक या दूसरा नेतृत्व-समूह सत्ता में रहने के लिए एक-दूसरे को उठाता-गिराता रह सकता है जैसे पूंजीवादी व्यवस्था में कंपनियों के प्रबंधन पर अधिकार के लिए दो पूंजीपतियों या समूहों में आपस में होड़ चलती रहती है, लेकिन उससे औद्योगिक विकासवादी नीतियों में या बुनियादी तौर पर अर्थ-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता। बहुदलीय संसदीय प्रणाली में भी विभिन्न राजनीतिक दलों की हैसियत वही होती है जो बाजार में विभिन्न सेठ-समूहों की।

इसलिए असली द्वंद्व प्रौद्योगिकी का है। एक दृष्टि है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता, गरिमा और उसके नैतिक उत्थान को महत्त्व देती है, तो दूसरी केवल भौतिक सुविधाओं की बढ़ोत्तरी को, चाहे इसके लिए सृष्टि की संपूर्ण संपदा का इस तरह दोहन करना पड़े कि भावी पीढ़ियों के लिए कुछ न बचे। एक उपभोगपरक दृष्टि है जो जीवन का प्रयोजन भौतिक सुविधाओं की अधिकाधिक बढ़ोत्तरी को मानती है, तो दूसरी ओर वह आध्यात्मिक या नैतिक दृष्टि है जो कुछ बुनियादी सुविधाएं भी इसलिए चाहती है कि मनुष्य अपने जीवन को नैतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों के योग्य बना सके। जब हम प्रौद्योगिकी की बहुलता को स्वीकार करते हैं तो हम सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में भी एक बहुलवादी अर्थात् सच्चे अर्थों में एक लोकतांत्रिक दृष्टि की वांछनीयता पर जोर दे रहे होते हैं जबकि इसके बरक्स जब हम एक सार्वभौमिक हिंसक प्रौद्योगिकी को चुनते हैं तो प्रकारांतर से सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में भी एकपंथवाद या राजनीतिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी-न-किसी प्रकार के अधिनायकवाद को चुन रहे होते हैं। ❖

जारी—अगले अंक में समाप्य

संदर्भ :

1. यंग इंडिया, 3.9.1925, पृ. 398
2. मानव अर्थशास्त्र, नरहरि परीख, पृ. 8
3. समुचित तकनीक, ई.एफ. शुमाकर, पृ. 12
4. यंग इंडिया, 13.10.1921, पृ. 325
5. हरिजन, 19.10.1937, पृ. 292
6. यंग इंडिया, 5.2.1925, पृ. 48
7. यंग इंडिया, 28.4.1927, पृ. 137
8. महात्मा गांधी : जीवन और चिंतन, आचार्य कृपलानी, पृ. 396
9. हरिजन, 16.2.1947, पृ. 25
10. स्पीचेज एंड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी, पृ. 353
11. यंग इंडिया, 5.5.1927, पृ. 142
12. यंग इंडिया, 15.10.1931, पृ. 310
13. कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम : इट्स मीनिंग एंड प्लेस, महात्मा गांधी, पृ. 20-21
14. दि रेबेल, अल्बेयर कामू, पृ. 177

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बल पर जहां मानव-सुखोपभोग के अनेक संसाधनों का विकास हुआ, वहीं मानवीय अस्मिता पर भी गहरे प्रश्नचिह्न लगने लगे और मनुष्य अबूझ निराशा-हताशा से ग्रस्त रहने लगा। प्रकृति को अपने नियंत्रण में कर लेने के मिथ्या अहंकार और पर्यावरणीय संकट भी आधुनिकता के इसी दौर में सामने आए और मनुष्य की अंतहीन लालसाएं भी इसी आधुनिकता के दौर की देन कहलाईं। इसके बरक्स आधुनिकोत्तर काल इन्हीं विकृतियों-विसंगतियों से सबक लेने के काल के रूप में सामने आया और इस दिशा में अलग-अलग स्तरों पर चिंतन होने लगा। इसी दिशा में आचार्यश्री महाप्रज्ञ का चिंतन कई दृष्टियों से विचारणीय कहा जा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ विरोध या द्वैत में समन्वय स्थापित करते हुए एकता व समानता को प्रस्थापित करते नजर आते हैं। आधुनिकोत्तर काल की प्रवृत्ति व उसके विरोधाभासों की भी वे सापेक्ष व्याख्या करते हुए उनमें भी समानता व एकता ढूंढ़ते हैं। उनके चिंतन पर एक गवेषणात्मक विश्लेषण—

उत्तर-आधुनिकता एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ

❑ डॉ. बच्छराज दूगड़

आधुनिकता वह काल था, जिसमें विश्व को समझने एवं समस्याओं के समाधान के लिए विज्ञान और बुद्धि मुख्य साधन बनाए गए थे। वस्तुतः आधुनिकता इस एक विश्वास के द्वारा संचालित रही कि मानव बुद्धि में विश्व को समझने, उसे परिवर्तित करने और संक्षेप में कहें तो उस पर आधिपत्य करने की शक्ति है। आधुनिकता के दौर में विज्ञान का विकास हुआ, बुद्धि हावी रही और मनुष्य जाति का अनियंत्रित विकास में विश्वास रहा। वैज्ञानिकों द्वारा ब्रह्मांड के नियम और प्राकृतिक विश्व की वस्तुनिष्ठता को खोजा गया। मनुष्य प्रकृति और पर्यावरण पर नियंत्रण पाने में सक्षम हुआ। मानव स्थितियों को सुधारने के लिए विज्ञान और बुद्धि सक्षम माने गए और इन्हीं के द्वारा प्रगति के रास्तों को खोजा गया। राज्य और सरकारें सामाजिक उत्थान और प्रगति के लिए मूलभूत घटक बने। किंतु शीघ्र ही इन प्रवृत्तियों पर आधारित समाज, प्रकृति एवं मानव की जो स्थिति उभरकर सामने आई, उससे आधुनिकता की मूल प्रवृत्ति विज्ञान और तर्क के उपयोग को संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा, प्रगति पर प्रश्नचिह्न लगा।

आधुनिकता से उपजी समस्याएं

आधुनिकता की प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप आज संपूर्ण मानव जाति एक गहरी निराशा एवं अस्तित्व के संकट के दौर से गुजर रही है। उग्र भौतिकवाद एवं तीव्र प्रगति की तार्किक परिणति एक ओर जहां नाभिकीय संकट, पर्यावरणीय प्रदूषण तथा संसाधनों की कमी के रूप में देखने को मिलती है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक क्षेत्र में बढ़ते हुए उपभोक्तावाद, नैतिक मूल्यों में ह्रास और सामाजिक सुरक्षा की कमी के रूप में भी परिलक्षित हुई है।

वस्तुतः आधुनिकता का काल विश्व के लिए एक विशेष प्रकार का आपातकाल कहा जा सकता है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप मनुष्य को सुख-सुविधा के सभी साधन उपलब्ध हुए, किंतु सुखभोग की अनुभूति कम होती जा रही है। उसके सारे कर्म यंत्रवत होते जा रहे हैं तथा उसकी आंतरिकता का हनन हुआ है। अस्तित्ववादियों का मानना है कि यह मानव के अमानवीयकरण की प्रक्रिया है। आज का मानव किसी न किसी प्रकार से अपनी वास्तविकता से, अपनी तात्त्विक स्थिति से विशृंखलित हो गया है। उसका यह अलगाव तीन स्तरों पर हुआ है—

1. मनुष्य का स्वयं के साथ
2. मनुष्य का समाज के साथ और
3. मनुष्य का प्रकृति के साथ

जीवन की व्यर्थता, रिक्तता, प्रयोजनहीनता, संत्रास और बिखराव आधुनिकतावादी तकनीकी समाज की देन है।

बुद्धिवाद के युग में भौतिक स्तर पर विशिष्टीकरण एवं अतिविशिष्टीकरण और अतिबौद्धिकता ने जीवन को एकपक्षीय बनाया है, परिणामतः जीवन में समग्रता का भाव ही समाप्त हो गया है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर व्यक्ति का अलग-अलग टुकड़ों में हो जाना आधुनिकता की सबसे बड़ी त्रासदी है। विशुद्ध बौद्धिक दृष्टि ने जीवन की संपूर्णता और सौंदर्य की अनुभूति को ही समाप्त कर दिया है।

उत्तर–आधुनिकता

काल का पहिया चलता रहता है। बहुत-से समाजशास्त्रियों की यह राय बनती जा रही है कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम तीन-चार दशक तीव्र और संभवतः मूलभूत समाज परिवर्तन के रहे हैं। इस परिवर्तन को हम मुख्यतः आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता का संक्रमण काल कह सकते हैं। इस काल में सूचना और संचार की तीव्र प्रगति हुई, जिसके फलस्वरूप मूलभूत, त्वरित तथा सार्वभौमिक परिवर्तन संभव हुए और वैश्वीकरण की प्रवृत्ति विकसित हुई।[1] परिणामतः समस्याओं की प्रकृति को देखते हुए वैश्विक स्तर पर उनके समाधान हेतु चिंतन भी आरंभ हुआ।

उत्तर–आधुनिकता का चिंतन मूलतः आधुनिकता के दुष्परिणामों को दूर करने की दिशा में एक समग्र चिंतन माना जा सकता है। साथ ही उत्तर-आधुनिकता में यह विचार भी उभर कर सामने आया है कि हम आधुनिकता की गलतियों से सबक लें और स्वयं को नए संदर्भ में रखकर विकास को परिभाषित करें। वस्तुतः उत्तर-आधुनिकतावादी चिंतन आधुनिकता के आशावादी भ्रम से स्वयं को मुक्त रखकर एक नई सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में चिंतन है।[2] आचार्यश्री महाप्रज्ञ का गत तीन दशक का चिंतन इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

एक विविधतापूर्ण किंतु अविभाजित संस्कृति पर बल देते हुए उत्तर–आधुनिकतावादी चिंतकों का मानना है कि आधुनिकता के दौर में सभी लोगों को पूंजीवाद के संदर्भ में अपनी रचनात्मकता को देखना पड़ता है जिससे इनके बीच वर्ग-संघर्ष एवं द्वेष सामान्य हो जाते हैं जबकि उत्तर–आधुनिकता में एक समान संस्कृति की अंतर्दृष्टि से व्यक्ति वैयक्तिक और सामूहिक स्तर पर कार्य करते हैं जो उनकी रुचि, कर्म एवं रचनाधर्मिता से प्रभावित रहता है न कि वर्ग-भेदों से।

वैविध्य और बहुलवाद

तर्क एवं बुद्धिवाद के आधुनिक युग में जगत, समाज और मानव के संदर्भ में कोई भी चिंतन एकांगी रहा है। यह चिंतन या तो वस्तुनिष्ठता के आधार पर किया गया या फिर आत्मनिष्ठता के आधार पर। परिणामतः जगत, समाज व मानव की सभी व्याख्याएं अपूर्ण रहीं। वस्तुनिष्ठवादियों ने जहां नैतिक मापदंडों एवं मानवीय मूल्यों की अवहेलना की, वहीं आत्मनिष्ठवादियों ने ठोस सामाजिक वास्तविकताओं को नकारा।

उत्तर–आधुनिकता के विचारकों का यह मानना है—सामाजिक जगत बहुत-से एवं भिन्न-भिन्न व्यक्तियों, समूहों एवं संस्कृतियों—जिनका व्यवहार और पहचान निरंतर परिवर्तनीय है और जिनका पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता—से बना है। इसलिए किसी एक पक्ष या व्यवहार को आधार मानकर समग्र सिद्धांत की संरचना संभव नहीं हो सकती। इस प्रकार सापेक्षिक चिंतन उत्तर–आधुनिकता की मूलभूत विशेषता है।[3]

यह वैविध्य और बहुलवाद पर बल देता है तथा यह मानता है कि विविधता इतनी व्यापक है कि किसी एक आधार पर व्यक्ति का कोई चिंतन सार्वभौमिक नहीं हो सकता।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार वैविध्य और विरोध समाज और व्यक्ति की प्रकृति हैं। इस विश्व में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका प्रतिपक्ष न हो। प्रतिपक्ष अस्तित्व का अनिवार्य अंग है, इसलिए उसे विरोधी न माना जाए। विरोध हमारी मानसिक कल्पना है जबकि पक्ष के साथ प्रतिपक्ष की स्वीकृति इस जगत का सौंदर्य है।[4] अनेकांत विविधता की सापेक्ष व्याख्या करता है। सापेक्षता के आधार पर ही एकात्मकता का विकास संभव है। अनेकांत का हार्द ही है अभिन्नता को स्वीकार करना और भिन्नता में सहअस्तित्व की संभावना को खोजना। मानव जाति अभिन्न है, उपयोगिता एवं व्यावहारिकता की दृष्टि से वह अनेक रूपों में विभक्त है। उपयोगिता मौलिकता का अतिक्रमण करे—यह असंगत है। उपयोगिता के आधार पर बनी विविध इकाइयों में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तभी संभव है जब वे सापेक्षता के सूत्र में बंधी हों। स्पष्टतः आचार्यश्री महाप्रज्ञ विरोध या द्वैत में समन्वय स्थापित कर संबंधों में एकता और समानता देखने की प्रवृत्ति पर बल देते हैं। उत्तर–आधुनिकता की प्रवृत्ति भी संबंधों में विरोध की सापेक्ष व्याख्या कर उनमें समानता व एकता ढूंढ़ना है।

प्रकृति और पर्यावरण के प्रति बढ़ती जागरूकता

उत्तर–आधुनिकता में प्रकृति और पर्यावरण के प्रति उत्तरदायित्व की तीव्र भावना विकसित हो रही है। उत्तर–आधुनिकता उत्पादन, उपभोग, ऊर्जा के प्रयोग, प्रौद्योगिकी के स्तर, जनसंख्या वृद्धि आदि का आलोचनात्मक परीक्षण करते हुए संपोषित विकास की अवधारणा प्रस्तुत करती है।[5] संपोषित विकास एक ऐसा विकास है जो प्रकृति की व्यवस्था को हानि नहीं पहुंचाएगा, बल्कि इसके सभी अंगों में सामंजस्य स्थापित करेगा। यह धारणा उत्पादन, उपभोग, राजनीतिक ढांचों, रहन-सहन एवं आदतों में आमूल परिवर्तन की मांग करती है। मौलिक रूप से यह विकास की वह अवधारणा है जो ऊर्जा के कम प्रयोग, अधिक शारीरिक श्रम, भौतिक वस्तुओं की मिताहारिता, व्यक्तिगत आत्म-संतुष्टि तथा स्वैच्छिक मिताहारिता पर आधारित है। यह व्यक्ति के नैतिक उत्तरदायित्व पर ज्यादा बल देती है। इस सिद्धांत के मूल मंत्र हैं—मिताहारिता, आत्म-निर्भरता तथा स्वैच्छिक सादगी।[6]

आचार्यश्री महाप्रज्ञ की दृष्टि में मनुष्य आज अनेक दिशाओं में अकल्पित प्रगति कर रहा है, पर पर्यावरण संकट के रूप में वह ऐसे खतरनाक बिंदु पर भी पहुंचा है जहां विकास की संपूर्ण यात्रा पर प्रश्नचिह्न खड़ा हो गया है। प्रकृति का अपना एक निश्चित संतुलन है। मनुष्य इस प्राकृतिक व्यवस्था को लांघकर अपने असंयम से या वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर कुछ ऐसे प्रयत्न कर रहा है जिनसे इस सहज संतुलन के बिगड़ने का खतरा पैदा हो गया है। इस संकट के पीछे यह मिथ्या धारणा है कि सब पदार्थ मनुष्य के उपभोग के लिए हैं। इसी धारणा के आधार पर उपभोक्ता संस्कृति का निर्माण हुआ और व्यक्ति की उच्छृंखलता के फलस्वरूप संयम और सादगी जैसी बातें गौण हो गईं।

'इस विश्व में मैं अकेला नहीं हूं, केवल मेरा ही अस्तित्व नहीं है'—आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार पर्यावरण विज्ञान का यह मौलिक सूत्र है। वे कहते हैं—प्रत्येक व्यक्ति के परिपार्श्व में जीव और अजीव दोनों का पर्यावरण है। इनकी स्वतंत्र सत्ता है इसलिए इनके अस्तित्व को अस्वीकार मत करो। इनके अस्तित्व के अस्वीकार का अर्थ है—अपने अस्तित्व का अस्वीकार। छोटे से छोटे जीव और छोटे से छोटे पदार्थ को स्वीकारना और उनके साथ छेड़छाड़ न करना, अपने अस्तित्व की भांति दूसरों के अस्तित्व का सम्मान करना आत्मौपम्य भाव है। आत्मौपम्यता का व्यापक प्रसार ही पर्यावरण प्रदूषण में उलझे समाज को नई दिशा दे सकता है।[7]

कई उत्तर–आधुनिकतावादी पर्यावरण समूहों और हरित राजनीतिक दल के समान ही इच्छा, संयम एवं उपभोग के सीमांकन के आधार पर आचार्यश्री महाप्रज्ञ व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवनशैली में परिवर्तन का संदेश देते हैं और पर्यावरण के प्रति जागरूकता को प्रोत्साहित करते हैं। उत्तर–आधुनिकता का लक्ष्य भी यही है।

खतरों के प्रति जागरूकता

उत्तर–आधुनिकता की प्रमुख विशेषता विज्ञान के दुष्प्रभाव एवं प्रगति के खतरों के बारे में जागरूकता पैदा करना है। विज्ञान के कारण प्रकृति, पर्यावरण और मानवता की जो गंभीर क्षति और संकट पैदा हुआ है उस पर आलोचनात्मक विचार तथा प्रगति के अवांछित निषेधात्मक परिणामों एवं खतरों के प्रति जागरूकता को विकसित करना इसमें निहित है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार प्रौद्योगिकी का बहुत विकास हुआ है, लेकिन इसका प्रयोग जिस सूक्ष्मता के साथ संहार की दिशा में हुआ है, उतना मानव-कल्याण की दिशा में नहीं हुआ है। प्रौद्योगिकी से उद्योगवाद का विकास हुआ और जहां उद्योगवाद को खुला आकाश मिला वहां संघर्ष और प्रदूषण के खतरे भी बढ़े। यांत्रिक युग का यह अभिशाप धीरे-धीरे सारे संसार में फैलता जा रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति के फलस्वरूप वनों की कटाई, खाद्यान्नों की आपूर्ति के लिए पृथ्वी एवं मिट्टी के दोहन के फलस्वरूप वनस्पति और पशु-पक्षियों की कई प्रजातियां लुप्तप्रायः हो गई हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मानना है कि एक सीमा से अधिक विकास के लिए प्रकृति का उपयोग किया जाता है तो पर्यावरण में परिवर्तन होता है। इन परिवर्तनों की प्रक्रिया का प्रकृति के साथ सामंजस्य नहीं हो और परिस्थिति-विज्ञान संबंधी संतुलन को बनाए नहीं रखा जाए तो उससे न केवल विकास व्यय के बढ़ने का खतरा होता है बल्कि उससे ऐसा असंतुलन भी पैदा होता है कि पृथ्वी पर जीवन भी खतरे में पड़ सकता है।[8] इस संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञ जागरूकता की बात करते हुए वैयक्तिक संयम, सादगी एवं श्रम पर बल देते हैं। उनका कहना है—संयम का मूल्य केवल धार्मिक जगत के लिए ही नहीं, यह संपूर्ण मानव जाति और प्राणी मात्र के लिए व्यवहार्य है क्योंकि 'संयम ही जीवन है।'

वैश्वीकरण

आधुनिकता के अंतिम दौर में हुई वैश्वीकरण की प्रक्रिया के निम्न प्रभाव देखने को मिले हैं—

—समाज और संस्कृति के बीच गहरी खाई पैदा हुई।

व्यक्तियों, पर्यावरणविदों एवं प्राणी अधिकारों के लिए कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं आदि को सामाजिक संवेदनशील उपभोक्ता कहा जा सकता है। सामाजिक संरचना एवं वर्ग पर आधारित व्यवस्था इस तरह की जीवनशैली का अनुमान तक नहीं कर सकती क्योंकि भौतिकता संवेदनशीलता को लील जाती है।

जीवंत राजनीति (लाइफ पोलिटिक्स)

आधुनिकता के काल में राजनीति, सरकार एवं राज्य समाज के केंद्रीय तत्त्व रहे, परंतु उत्तर–आधुनिकता के विचारक राजनीति और सरकार की इस अवधारणा को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, वे 'लाइफ पोलिटिक्स' के विकास पर बल देते हैं।[16] 'लाइफ पोलिटिक्स' का तात्पर्य है कोई भी परिवर्तन दलीय राजनीति अथवा सरकारों के द्वारा न होकर व्यक्तियों और समूहों की अंतःक्रियाओं द्वारा हो।[17] इस तरह की संगठनात्मक दृष्टि महिला आंदोलनों व पर्यावरण आंदोलनों आदि में देखने को मिलती है जहां सरकार और राजनीति का अधिक वर्चस्व न रहकर व्यक्ति और समाज के बीच गठबंधन बड़े पैमाने पर परिवर्तनों को दिशा देते हैं। उत्तर–आधुनिकतावादी चिंतन स्वायत्तता के लिए प्रजातंत्र को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति मानते हैं। वैयक्तिक संबंधों पर आधारित प्रजातंत्र में स्वायत्तता के लिए सदैव विचार-विमर्श 'लाइफ पोलिटिक्स' ही है। स्वायत्तता से उनका आशय निर्णय लेने में सभी लोगों की समान भागीदारी, खुलापन और पारस्परिक विश्वास तथा अधिकार और कर्त्तव्यों के बीच उचित और समान संतुलन है।[18] उत्तर–आधुनिकता काल में स्वायत्तता की अत्यधिक संभावनाएं हैं जबकि प्रगति की आधुनिक विचारधारा में स्वायत्तता को सीमित किया गया था।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार तंत्र के इतिहास में लोकतंत्र सर्वोत्तम विकल्प है, किंतु लोकतंत्र का भविष्य किसी दल विशेष के शासन पर निर्भर नहीं हो सकता। सत्तासीन व्यक्तियों का अपना दृष्टिकोण होता है और जो सत्ता में नहीं हैं—पूरे समाज और मानव जाति का अपना दृष्टिकोण होता है। जनता के दृष्टिकोण को सत्ता के आसन पर बैठे लोग नहीं समझ रहे। ऐसी स्थिति में जनता का यह कर्तव्य है कि वह अपने स्वर को इतना बुलंद करे, अपनी आवाज और विचार को इतना शक्तिशाली बनाए कि सत्ता पर बैठे लोगों को वह स्वर सुनना पड़े।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ व्यक्ति और समाज की अंतःक्रियाओं एवं निर्णय लेने की समान सहभागिता को लोकतंत्र के लिए आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है—व्यक्ति में वैयक्तिक चेतना की पवित्रता से निष्पन्न व्यवहार (अंतःक्रिया) सामुदायिक चेतना को निश्चित रूप से प्रभावित करेगा। व्यवहार में ही विश्व है; अतः व्यक्ति की चर्चा मानव और विश्व की चर्चा होगी तथा समुदाय की चर्चा विश्व-मानव की चर्चा होगी। विश्व-मानव सामुदायिक-चेतना है। इस भूमिका पर खड़ा कोई भी व्यक्ति स्वयं के स्थान पर विश्व को पहले देखेगा। यह दृष्टि-परस्परता, व्यवस्था अर्थात् जीवंत राजनीतिक प्रणाली की भूमिका बन सकती है।[19]

लाइफ पोलिटिक्स के लिए सामूहिक पहचान विकसित करने की आवश्यकता है। यह पहचान सामाजिक आंदोलनों द्वारा विकसित हो सकती है। आंदोलनकारियों को यह जानना आवश्यक है कि वे क्या परिवर्तन चाहते हैं, यहां वैयक्तिकता के साथ सामुदायिकता का संतुलन आवश्यक हो जाता है। परिवर्तन की चाह रखने वाले सामाजिक आंदोलनकारी वैकल्पिक जीवनशैली को अपनाएं, राज्यशक्ति से ऊपर उठें तथा वैयक्तिक जीवनशैली और सार्वजनिक स्थितियों के बीच निरंतर सामंजस्य रखें तो राजनीति का जीवंत रूप सामने आ सकता है।[20]

निष्कर्ष

उत्तर–आधुनिकतावादी चिंतक जिस प्रकार आधुनिकतावादी चिंतनशैली, विज्ञान और प्रगति के खतरों, लोकतंत्र, संस्कृति, पर्यावरण एवं उपभोक्तावाद के प्रति अपनी चिंताओं को प्रदर्शित करते हैं, ठीक उसी प्रकार आचार्यश्री महाप्रज्ञ इन समस्याओं को गंभीरतापूर्वक देखते हुए इनके समाधान की दिशा में दूरगामी मौलिक विचार रखते हैं। उनके विचारों का आधार यद्यपि जैन धर्म एवं दर्शन तथा भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्य रहे हैं तथापि वर्तमान वैश्विक समस्याओं का विश्लेषण उन्होंने एक सामाजिक चिंतक की भांति किया है तथा व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किए हैं।

उत्तर–आधुनिकतावादी चिंतक विज्ञान और बुद्धि के साथ-साथ नैतिक, भावनात्मक एवं व्यक्तिगत मूल्यों पर भी बल देते हैं तथा यही इसे आधुनिकता से अलग करते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ भी आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के साथ वैज्ञानिक दृष्टि पर समान बल देते रहे हैं।

उत्तर–आधुनिकता के संदर्भ में अभी भी कुछ मूलभूत गंभीर प्रश्न हैं, जिन पर रचनात्मक बहस आवश्यक है। जैसे—

1. क्या उत्तर–आधुनिकता के काल में और अधिक भौतिक प्रगति की अपेक्षा पर्यावरणीय क्षति जैसे प्रगति के परिणामों का महत्त्व अधिक रहेगा?

2. क्या सांस्कृतिक और ज्ञान के मुद्दे आर्थिक और भौतिक मुद्दों का स्थान लेंगे ?
3. क्या वाणिज्य एवं संचार की शक्तियां एक वैश्विक समाज का निर्माण करेंगी ?
4. क्या वर्ग, जाति, लिंग, नृवंश, राष्ट्रीयता आदि के आधार पर भेदों का मूल्य कम हो जाएगा।
5. क्या कार्य की अपेक्षा आराम और उत्पादन की अपेक्षा उपभोग अधिक सार्थक होगा ?

इन प्रश्नों पर बहस का महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि उत्तर–आधुनिकता के संदर्भ में भी दो विचार हैं। एक विचार के अनुसार उत्तर-आधुनिककाल में आधुनिकता के कारण उपजी समस्याओं का समाधान और अधिक परिष्कृत प्रौद्योगिकी के द्वारा कर लिया जाएगा, जबकि दूसरा वर्ग उन विचारकों का है जो यह मानते हैं कि जीवनशैली एवं चिंतन में परिवर्तन किए बगैर आधुनिकता से उपजी समस्याओं का समाधान संभव नहीं है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के चिंतन को इसी कोटि में रखा जा सकता है। ❖

संदर्भ

1. Alvin Tofler-Third wave.
2. Bauman zygmunt. Intimation of Modernity Routledge, 1992.
3. Gellner, E, Postmodernism, Reason & Religion, Routledge, 1992.
4. आचार्य महाप्रज्ञ—अनेकांत है तीसरा नेत्र।
5. Mike o'Donnell, Sociology, P. 43-44.
6. आचार्य महाप्रज्ञ—पर्यावरण।
7. आचार्य महाप्रज्ञ—अहिंसा और शांति, पृ. 9-11.
8. आचार्य महाप्रज्ञ—पर्यावरण।
9. Touraine, An Introduction to theories of popular culture, Dominic Strinati, (Routledge). 1995, 223-228.
10. Ibid.
11. आचार्य महाप्रज्ञ—महावीर का अर्थशास्त्र, पृ. 87-95।
12. समाज व्यवस्था के सूत्र—आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 137-147।
13. Paul Willis, Common Culture, Open University press, 1990.
14. महावीर का अर्थशास्त्र, पृ. 99-101।
15. J.K. Mehta: Studies in advance theory of Eleonomics.
16. A Giddens, The Trans formation of Intimacy: Sexuality, Love and Eroticism in Modern society, Polity Press (1992).
17. Mike o' Donnell-Sociology, P. 643.
18. A Giddens, The Trans formation of Intimacy: Sexuality, Love and Eroticism in Modern society, Polity Press (1992).
19. आचार्य महाप्रज्ञ; नया मानवः नया विश्व, पृ. 215-223।
20. Alain Touraine, Identity Orientation.

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

इस गतिशील जगत या गतिशील कालचक्र में जहां हर चीज गतिशील है, एक धुरी है, जिस पर सत्य और प्रज्ञा का स्रोत अवस्थित है और वही हमें ज्ञान प्रदान करता है। अगर हम उस धुरी की उपेक्षा करें और सतही जीवन जीते रहें तथा मशीनों के बीच रहते हुए खुद भी मशीन बन जाएं तो यह खतरा हमें बहुत भारी पड़ेगा और हम अपनी सच्ची आत्मा से अलग हो जाएंगे।

ज्ञान और प्रज्ञा

❑ डॉ. राधाकृष्णन्

आमतौर पर शिकायत की जाती है कि जहां एक तरफ प्रकृति की हमारी जानकारी में निरंतर वृद्धि हो रही है, वहां हमारी प्रज्ञाशक्ति क्षीण होती जा रही है। विज्ञान की चामत्कारिक उपलब्धियां बहुत प्रभावशाली हैं और इनके प्रभाव से वह सारी दुनिया को विनाश के कगार पर पहुंचा सकता है। अगर लोग बढ़ती हुई न्यूक्लीय शक्ति के परिणाम पर विचार करें तो पाएंगे कि आखिर इन्सान को हो क्या गया है, वह क्यों भौतिक शक्ति को बढ़ाने पर तुला हुआ है? रेडियो, टेलीविजन और इसकी मशीनों पर नियंत्रण करके उसने अपने शरीर को बहुत फैला लिया है और फिर भी उसकी आत्मा जहां की तहां है। इसका विस्तार शरीर के अनुरूप नहीं हो रहा है।

प्रज्ञा और ज्ञान की वृद्धि का अनुपात बिगड़ गया है। इसी विषमता ने अनेक लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। हमें वस्तुजगत के ज्ञान में वृद्धि करनी चाहिए, हमारे सामने कुछ मूल्य होने चाहिए। जिनका उपयोग हमारी यांत्रिक खोजों और आविष्कारों के माध्यम से किया जाना चाहिए। विज्ञान का स्वरूप कैसा भी हो, हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य की आत्मा ही वह चीज है जो वहां अपने-आपको अभिव्यक्त कर रही है। प्रत्येक व्यक्ति को सतही जीवन जीने के बजाय अपने भीतर झांककर देखना चाहिए। उसके भीतर काफी गहराई है। वहां एक केंद्र है, जो तमाम परिवर्तनों के बावजूद अपनी जगह स्थिर है। वाचस्पति ने कहा था : 'एषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत् तेभ्यो भिन्नम्।' इस गतिशील जगत या गतिशील कालचक्र में जहां हर चीज गतिशील है, एक धुरी है, जिस पर सत्य और प्रज्ञा का स्रोत अवस्थित है और वही हमें ज्ञान प्रदान करता है। अगर हम उस धुरी की उपेक्षा करें और सतही जीवन जीते रहें तथा मशीनों के बीच रहते हुए खुद भी मशीन बन जाएं तो यह खतरा हमें बहुत भारी पड़ेगा और हम अपनी सच्ची आत्मा से अलग हो जाएंगे। इसलिए हमें वैज्ञानिक और मानवीय सभी प्रकार की अपनी जानकारियों को मनुष्य या उसकी सुंदर आत्मा, जो वहां चेतना की द्रवणशील शिखा के रूप में अवस्थित है, की अभिव्यक्ति समझना चाहिए। अगर हम सतह पर नजर रखते हैं तो वास्तविकता, जो सभी महान चीजों का अंतिम स्रोत है, की अनदेखी हो जाती है। हमें यह देखना होगा कि क्या इस प्रकार के ज्ञान में वृद्धि होने के साथ कहीं प्रज्ञाशक्ति क्षीण तो नहीं हो रही है?

हम इस प्रकार की आलोचना के शिकार इसलिए हो रहे हैं कि हमने आध्यात्मिक पक्ष की अवहेलना की है, मानवता की उपेक्षा की है और हमारा सारा ध्यान जीवन के बाहरी पक्ष पर ही केंद्रित है। हमें इस बात का जरा भी विचार नहीं है कि जीवन के इस पक्ष का उपयोग मनुष्य की प्रज्ञाशक्ति को बढ़ाने के लिए ही किया जाना चाहिए। इसलिए प्रज्ञा और ज्ञान का विकास एक साथ ही होना चाहिए। इस संसार की प्रत्येक वस्तु बाह्य पदार्थों को आत्मसात करने का एक जरिया या साधन होनी चाहिए। यहां तक कि कला, जिसमें हम रहते हैं और जिसका हम सृजन करते हैं, का उपयोग भी इसी रूप में होना चाहिए। कहा भी है, 'कला कं परमात्मनं लाति गृह्णाति इति कला।' हम जिसके द्वारा परमात्मा को प्राप्त करते हैं, उसे कला कहते हैं और इसका उद्देश्य है मनुष्य की आत्मा का संस्कार— 'आत्मा संसृति वाव शिल्पानि।' सभी विज्ञान है लेकिन हम अपनी आत्मा का संस्कार करने के लिए इसका उपयोग नहीं कर पाते। हम कितनी ही बार इसकी चर्चा तो करते हैं, लेकिन व्यवहार में इसकी उपेक्षा करते हैं। ❖

अनुभूति

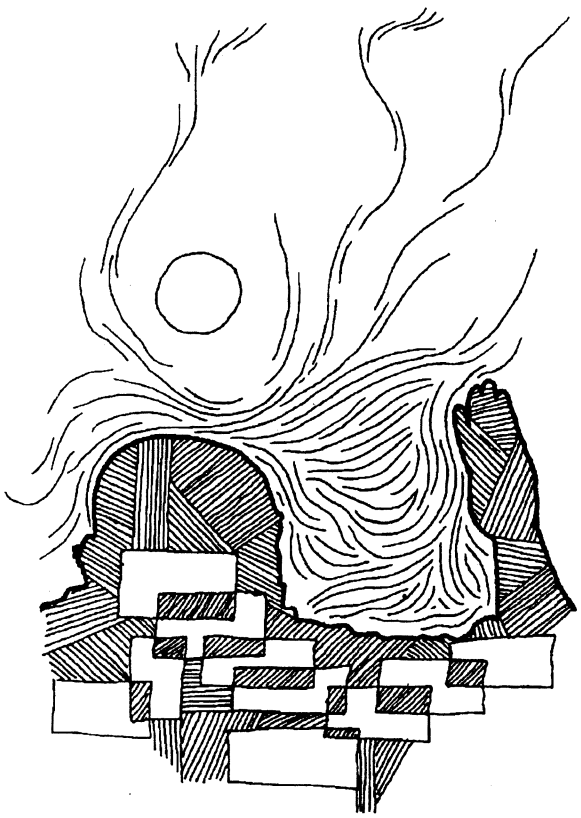

फूल

पंखुरियां ठंडी और गीली महसूस होती हैं
जैसे उनसे रंग रिस रहा हो
भीतर देखने पर फूल गहरी खाई–सा लगता है
मध्य में रेशे उगे हैं
लगता है जैसे वह किसी भी क्षण
कोई अटपटी बात कह देगा
मैं फूल को देखते समय कभी नहीं समझ पाऊंगा
कि उसके साथ क्या किया जाय
मैं उसे कतर लेता हूं, उसका स्वाद थोड़ा कसैला है
और मुझे कुछ भी सोचने को उकसाता नहीं
अध्यापक हमें फूलों के नाम याद करने को कहते हैं
पर मैं नहीं करना चाहता
इस खेत में खड़ा रहना ही
मेरे लिए काफी है
मेरे नंगे पांव के तलुए में कुछ गड़ता–सा लग रहा है
बिल्कुल अभी धूप मेरे सिर तक चढ़ आई है
मैं हवा की आवाज, गंध और स्वाद से भर गया हूं
क्या मनुष्य को कुछ करना जरूरी है
फूल सिर्फ खिलते हैं
और वे इसी तरह रहते हैं

—**शुंतारोतानीकावा (जापानी कवि)**
रूपांतर : **उदयन वाजपेयी**

मर्यादा-पालन की दृष्टि से तेरापंथ शासन का अनूठा उदाहरण है। सैकड़ों वर्ष पूर्व आचार्यश्री भीखणजी द्वारा लिखी गई मर्यादाएं आज भी पथ-प्रदर्शन करती हैं और संघ उनका अक्षरशः पालन करता है। सात सौ से अधिक महाव्रती सदस्य एक आचार्य की आज्ञा में, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए सहर्ष विचरण करते हैं और जहां कहीं भी वे होते हैं, संघ की मर्यादा का यथोचित पालन करते हैं।

मर्यादा : अनुशासन का आधार

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

भगवान महावीर ने धर्म की आराधना की और शासन का प्रवर्तन किया। धर्म वैयक्तिक होता है और शासन सामुदायिक। धर्म व्यक्ति के अंतःकरण को शासित करता है, इसलिए वह भी शासन है। अनुशासन से अनेकता एकता के रूप में शासित होती है। इसलिए व्यवहार जगत में अनुशासन ही शासन है। इस सामुदायिक जीवन में रहकर धर्म की आराधना शासन के माध्यम से ही की जा सकती है। धर्म जैन या अजैन हो सकता है।

निश्चय और व्यवहार

महावीर अनुशासन-प्रिय थे। उन्होंने अनुशासन को उतना महत्त्व दिया, जितना किसी शिष्ट संगठन में दिया जा सकता है। इसीलिए जैन विद्वान यह गाते रहे :

आणा जुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठि-संघाओ

जो आज्ञा से संचालित है, वह संघ है। जिस संघ में आज्ञा की मान्यता नहीं है, वह प्राणहीन अस्थियों का ढांचा-मात्र है।

निश्चय-दृष्टि से धर्म सर्वोपरि है, पर व्यवहार-दृष्टि में शासन का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आचार्य ने चेतावनी की भाषा में लिखा—

जई जिणमयं पवज्जह, मा ववहारणिच्छयं मुयह।
ववहारस्स उच्छेए, तित्थुच्छेओ हवइ वस्सं।।

यदि जिनमत को प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय— दोनों को पकड़ो। व्यवहार का उच्छेद करने पर शासन का उच्छेद हो जाता है। उसका विच्छेद होने पर धर्म की वैयक्तिक आराधना का मार्ग भी विस्मृत हो जाता है।

अनुशासन और अभिमान

भगवान महावीर की अनुशासन-पद्धति को आचार्य भिक्षु ने बहुत विकसित किया। उन्होंने अपने संघ को कसा। उतना नहीं कसा, जिससे वीणा का तार ही टूट जाए, पर उतना अवश्य कसा कि जितना कसे बिना स्वर की मधुरिमा ही न फूटे। उन्होंने लिखा—

जो अपनी स्वच्छंदता पर नियंत्रण पा सकता है, वही आज्ञा का पालन कर सकता है और जो आज्ञा का पालन कर सकता है, वही सामुदायिक जीवन में सफल हो सकता है।

अग्नि और पानी में जितना विरोध है, उतना ही विरोध अनुशासन और अभिमान में है। जो अभिमानी होता है, वह गुरु का अनुशासन भी नहीं सहता, तब औरों का कैसे सह सकता है? अनुशासन को सहने की क्षमता बढ़े बिना संघ प्राणवान नहीं बनता। इस चिंतन के आधार पर आचार्य भिक्षु ने अनुशासन और उसे सहने वालों को सर्वोच्च स्थान दिया। उन्हें जहां कहीं अनुशासन के प्रति उपेक्षा लगी, वहां उसका प्रतिकार किया।

मर्यादा या अनुशासन पतंग की डोर के समान हैं। जब तक पतंग की डोर हाथ में रहती है, पतंग को जहां कहीं भी मोड़ा जा सकता है और उस पर नियंत्रण भी रखा जा सकता है। जैसे ही डोर छूट जाती है, उस पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। वह स्वच्छंद विचरण करने लगती है। ठीक यही स्थिति मर्यादा-विहीन मनुष्य की होती है।

वर्तमान वातावरण

मर्यादा या अनुशासन की दृष्टि से आज का वातावरण बहुत विषाक्त है। आज कोई किसी के अनुशासन में चलना

नहीं चाहता, कोई किसी की बात सुनना नहीं चाहता। सब अनुशासक बनना चाहते हैं, अनुशासित नहीं। मर्यादा को बंधन समझा जाता है। यही कारण है कि स्वतंत्रता के पश्चात लोगों के विचारों में अकल्पनीय परिवर्तन आ गया है। अनुशासन के अभाव में पद और कुर्सी की दौड़ में राष्ट्र के हित को भी नजरंदाज किया जा रहा है। यह प्रवृत्ति समाज व देश के लिए बहुत अहितकर है।

अनुशासन का अभाव : परिणाम

एक बार मगध-नरेश कोणिक ने वैशाली गणतंत्र पर आक्रमण कर दिया। उस समय वैशाली गणतंत्र के सूत्रधार वज्जी थे। वज्जी संगठन और अनुशासन की दृष्टि से बेजोड़ थे। उन्होंने कोणिक का डटकर मुकाबला किया। मगध-नरेश को हारकर पीछे हटना पड़ा। कोणिक के मन में इस पराजय का बहुत दुख हुआ। मंत्री ने कोणिक से अनुरोध किया—राजन्! आप सार्वजनिक रूप से मुझको देश से निकालने की घोषणा कर दें। मैं वैशाली जाऊंगा और वहां से जब वैशाली पर आक्रमण करने की सूचना भेजूं, आप उसी समय वज्जियों पर आक्रमण कर दीजिएगा। राजा ने मंत्री की बात मान ली। मंत्री फटेहाल वैशाली के राजभवन के द्वार पर पहुंचा। उसने प्रधानमंत्री को कहलाया—मगध का मंत्री, जिसे मगध-नरेश ने देश से निष्कासित कर दिया है, आपकी सेवा में आया है। प्रधानमंत्री ने शत्रु का भेद जानने के लिए उसे अपने पास रख लिया। मगध का मंत्री चतुर था, उसने थोड़े ही दिनों में सबका विश्वास प्राप्त कर लिया। उसे राजकुमारों की शिक्षा का भार सौंपा गया। जब सब राजकुमारों का भी वह गुरु के रूप में विश्वासपात्र बन गया तब वह एक-दूसरे के मन में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास के भाव भरने लगा। धीरे-धीरे उसने सबके दिलों में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा कर दिया और कोणिक को वैशाली पर आक्रमण करने की सूचना भेज दी। कोणिक पूरी तैयारी कर चुका था। उसने तत्काल वज्जियों पर आक्रमण कर दिया। जब मगध की सेना वैशाली की सीमाओं में घुसी तो प्रथा के अनुसार वैशाली के प्रधानमंत्री ने युद्धभेरी बजवा दी। लेकिन एक भी राजकुमार युद्ध के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ। प्रधानमंत्री ने सबसे बड़े राजकुमार से पूछा—शत्रु की सेना चढ़ आई है, आप सब मौन कैसे हैं? उत्तर मिला—जो साहसी और पराक्रमी है, वही जाकर युद्ध करे। मैं कायर क्या युद्ध कर सकूंगा? दूसरे राजकुमार ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा—जो चरित्रवान हैं, वे देश की रक्षा करें। मैं चरित्रहीन देश की रक्षा कैसे कर सकता हूं? इसी प्रकार सभी के अजीब उत्तर मिले। उसका परिणाम था—कोणिक की सेना आसानी से वैशाली में प्रविष्ट हो गई, उसे कोई प्रतिरोध नहीं मिला। वज्जियों का विशाल गणतंत्र पराधीन हो गया। कारण था—अनुशासन का अभाव।

अनुशासनहीनता के चार कारण

अनुशासन का मूल है विश्वास। विश्वास ही वह कड़ी है जिससे अनुशासित भी अपने आपको हल्का अनुभव करता है। ठीक इसके विपरीत अनुशासनहीनता के बुनियादी तौर पर चार कारण हैं—

अविश्वास, मिथ्या कल्पना, व्यवस्था का अभाव और किसी को प्रमुख न मानने की प्रवृत्ति।

अविश्वास जहां है, वहां मर्यादा या अनुशासन का पालन हो ही नहीं सकता। वज्जियों का उदाहरण हमारे सामने है।

मिथ्या कल्पना के घोड़े जहां दौड़ते हैं, वहां भी अनुशासन टिक नहीं पाता। कल्पना ही कल्पना में व्यक्ति अनुशासन के प्रति तरह-तरह की धारणाएं बना लेता है और अंत में अनुशासक के प्रति अपनी आस्था खो बैठता है। दैनिक जीवन में ही हम देखते हैं कि केवल कल्पना ही कल्पना में लोग कितना बड़ा अनर्थ कर बैठते हैं।

व्यवस्था का अभाव भी अनुशासनहीनता का प्रमुख कारण है। बिना सुव्यवस्था के अनुशासन टिक नहीं सकता।

किसी को प्रमुख न मानने की प्रवृत्ति का आजकल बहुत प्रचार-प्रसार है। राष्ट्र की आजादी के साथ-साथ सबके मन में एक ऐसी प्रवृत्ति ने घर कर लिया कि कोई किसी को अपना प्रमुख मानने के लिए तैयार नहीं। बिना प्रमुख के अनुशासन कैसा? सेना में कठोर अनुशासन का पालन किया जाता है, किंतु कराने वाला एक कप्तान, कमांडर या सेनापति होता है।

मर्यादा और तेरापंथ

मर्यादा-पालन की दृष्टि से तेरापंथ शासन का अनूठा उदाहरण है। सैकड़ों वर्ष पूर्व आचार्यश्री भीखणजी द्वारा लिखी गई मर्यादाएं आज भी पथ-प्रदर्शन करती हैं और संघ उनका अक्षरशः पालन करता है। सात सौ से अधिक महाव्रती सदस्य एक आचार्य की आज्ञा में, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए सहर्ष विचरण करते हैं और जहां कहीं भी वे होते हैं, संघ की मर्यादा का यथोचित पालन करते हैं। आवश्यकता है—आज व्यक्ति मर्यादा में रहना सीखे, अनुशासित बने। अनुशासक बनने वाले बहुत मिलेंगे, किंतु अनुशासित बनने वाले कितने हैं? मर्यादा बनाने वाले बहुत मिलेंगे, किंतु उसे निभाने वालों की गिनती अंगुलियों पर की जा सकती है।

अनुशासन से जुड़ी घटना

मुनि वेणीरामजी आचार्य भिक्षु के प्रमुख शिष्यों में से एक थे। एक बार आचार्य भिक्षु पीपाड़ में विराज रहे थे। वे दूकान में थे और मुनि वेणीरामजी सामने दूसरी दूकान में बैठे थे। आचार्य भिक्षु ने उन्हें संबोधित किया। एक, दो, तीन बार संबोधित किया, फिर भी वे नहीं बोले। आचार्य भिक्षु ने वहीं उपासना कर रहे गुमानमलजी लूणावत से कहा—'अब वेणी का संबंध-विच्छेद होने वाला है।' गुमानजी तत्काल दौड़े और मुनि वेणीरामजी के पास पहुंचे। वे अपनी धुन में बैठे थे। उन्होंने दौड़कर आने का कारण पूछा तो गुमानजी ने आचार्य भिक्षु का वह वाक्य सुना दिया। वेणीरामजी तत्काल उठे और आचार्य भिक्षु के पास आ चरणों में लोट गए। विनम्र स्वर में बोले—गुरुदेव! अजान में मेरा कोई अपराध हुआ हो तो आप क्षमा करें। मैं नहीं जानता, मैंने जान-बूझकर कोई अपराध किया है। गुरुदेव! आपका यह वाक्य मेरे लिए मौत से भी अधिक भयंकर है। आप अनुग्रह करें और मुझे बताएं कि मैंने क्या अपराध किया है, जिसके कारण आपको इतना कठोर अनुशासन करना पड़ा?

आचार्य भिक्षु बोले—मैंने तुझे तीन बार संबोधित किया, फिर भी तू नहीं बोला। यह मैं नहीं समझ सका—तू सामने बैठा है और सुन नहीं रहा है।

'गुरुदेव! मैंने आपके संबोधन को नहीं सुना। मैं दूसरे काम में लगा हुआ था। इधर मेरा मनोयोग नहीं था। क्या मुझसे यह आशा की जा सकती है कि आप मुझे संबोधित करें और मैं वहीं बैठा रहूं और वापस उत्तर तक न दूं? मेरी विनीत आत्मा को यह कभी मान्य नहीं है। मैं आपको फिर विश्वास दिलाता हूं कि मैंने जानते हुए ऐसा नहीं किया है। मेरी असावधानी से आपको कष्ट पहुंचा है, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं।'

आचार्य भिक्षु ने वेणीरामजी के सिर पर हाथ रखा। उनका उद्विग्न मन, प्रकंपित वाणी और कांपता हुआ शरीर एक साथ शांत एवं स्थिर हो गए।

अनुशासन और विनय

आचार्य भिक्षु महान क्षमाशूर थे पर अनुशासन के क्षेत्र में उन्होंने किसी को क्षमा नहीं किया। उनकी यह प्रवृत्ति तेरापंथ की पुण्य परंपरा बन गई। जयाचार्य ने इस बात पर बहुत बल दिया और कहा कि आचार्य उन्हीं साधु-साध्वियों का सम्मान बढ़ाएं, जो अनुशासन को सहने में समर्थ हैं। दूसरे के सामने अनुशासित करने पर जो मुरझा जाते हैं, विनयमार्ग से भटक जाते हैं, उनका सम्मान किस न्याय से बढ़ाया जाए?

खामी होने पर गुरु दूसरों के सामने उलाहना दे तब अविनीत के मुंह का रंग फीका पड़ जाता है और विनीत का मुंह विनय से उद्दीप्त हो उठता है। जयाचार्य ने कहा—'अग्रणी साधु-साध्वियों को भी खामी होने पर आचार्य परिषद् में उलाहना दे सकते हैं, उसे झेलने की क्षमता हो तो वे अग्रणी बनें। सब साधु-साध्वियों के लिए यह सामान्य रीति है और अग्रणी के लिए यह और विशेष है कि वे जैसे व्याख्यान देना सीखते हैं, वैसे ही अनुशासन को सहना सीखें।'

अनुशासन का स्वरूप

एक बार आचार्य भारीमालजी ईडवा में विराज रहे थे। मुनि रायचंदजी रामायण का व्याख्यान कर रहे थे। उन्हें विस्मृति हो गई और उन्होंने कुछ पद्य इधर-उधर कह दिए। आचार्य भारीमालजी ने उन्हें वहीं से टोका और कहा—रायचंद! क्या गप्पें हांक रहा है? रायचंदजी ने उनकी बात को स्वीकृति दी और फिर व्याख्यान करने लगे। व्याख्यान पूरा हुआ। वे आचार्य भारीमालजी के पास आकर बोले—गुरुदेव! आपने जो उलाहना दिया, वह ठीक था पर उसे परिषद् में न देकर व्याख्यान के बाद देते तो अच्छा रहता।

आचार्य भारीमालजी ने तत्काल सतयुगी (खेतसीजी स्वामी) को बुलाया और कहा—सुनो, यह रायचंद क्या कहता है? यह कहता है मुझे परिषद् में उलाहना न दें, एकांत में छिपे-छिपे दें। पर मैं छिपे-छिपे क्यों दूं? अब तो परिषद् में ही दूंगा! बोलो, तुम क्या कहते हो? सतयुगी बोले—गुरुदेव! रायचंद को यह कहने का क्या अधिकार है? आप जैसा ठीक समझें, वैसा करें। अब रायचंदजी आगे बढ़े, उन्होंने अपने अज्ञान के लिए क्षमा मांगी। उनकी विनम्र भावना का अंतिम उद्गार यही था—मैं नहीं जानता कि आप मुझे अनुशासन कैसे दें? आप मुझे अनुशासन दें, यही मैं जानता हूं।

अनुशासन की परंपरा

तेरापंथ में उन साधुओं को प्रथम स्थान मिला, जो अनुशासन को सहने में दक्ष थे। मुनि सतयुगीजी, वेणीरामजी, हेमराजजी और रायचंदजी—ये चारों गण-स्तंभ कहलाए। इन्होंने तेरापंथ में अनुशासन सहने की प्रशस्त परंपरा डाली, समभाव की साधना का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। गण की भार-धुरा उसकी भुजा पर है जो अहंकार को मिटा विनम्र बन जाता है। जिन साधुओं ने परिषद् में उलाहना सहा, समभाव में स्थिर रहे, उनका सम्मान बढ़ा, चार तीर्थ ने उनका यशोगान गाया।

अनुशासन की परंपरा विकसित नहीं होती तो स्वच्छंदता बढ़कर गण की प्रगति को रोक देती। इसीलिए हमारे पूर्वज आचार्यों ने आरंभ से ही इस तथ्य को बहुत गहराई से पकड़ा। उन्होंने संख्या को मुख्यता नहीं दी। उन्होंने मात्रा को मुख्य माना। अनुशासित पांच व्यक्ति जो काम कर सकते हैं, वह काम अनुशासनहीन पचास व्यक्ति भी नहीं कर सकते। अनुशासन के प्रति जहां 'खैर' की भावना आ जाती है, वहां शिथिलता घुस जाती है। एक बार शिथिलता आने पर सहजता से अनुशासन नहीं किया जा सकता। हमारी परंपरा में अनुशासन संबंधी जो घटनाएं घटीं, वे कोई बहुत बड़ी बातों पर नहीं घटीं। पर बड़ी घटनाओं का प्रारंभ छोटी घटनाओं से होता है। छोटी का ठीक उपचार हो जाए तो बड़ी घटना के घटने की संभावना ही न रहे।

प्रश्न है अनुशासन का

आचार्य भारीमालजी चाहते थे कि कोई साधु-साध्वी का सिंघाड़ा लावासंरदारगढ़ में न रहे। मोजीरामजी स्वामी वहां रह गए। वे वहां से विहार कर भारीमालजी स्वामी के दर्शन करने राजनगर आए। आचार्य भारीमालजी ने सब साधु-साध्वियों को आमंत्रित कर कहा—'आज मुनि मोजीरामजी आ रहे हैं। उन्हें कोई साधु-साध्वी वंदना न करे।' वे आए। साधु-साध्वियों ने उन्हें देखा पर कोई खड़ा नहीं हुआ, किसी ने वंदना नहीं की। मुनि मोजीरामजी आश्चर्य में पड़ गए। वे मन ही मन सोचने लगे—'यह क्या बात है? क्या ये लोग मुझे पहचान नहीं सके? मैं द्वार के पास में आ गया, फिर भी कोई साधु न पास में आता है, न कंधों से भार उतारता है, न खड़ा होता है, न वंदना करता है—आखिर बात क्या है?' वे आचार्य भारीमालजी के पास पहुंचे, वंदना की। आचार्यश्री ने सिर पर हाथ नहीं रखा। वे समझ गए अवश्य ही कोई कारण बना है। उन्होंने विनम्र शब्दों में कहा—'गुरुदेव! मैं नहीं जानता कि मैंने कोई अपराध किया है, फिर इतना दंड क्यों? अनजान में मेरा कोई अपराध हुआ हो तो आप क्षमा करें और मुझे अपना वात्सल्य दें।'

आचार्यश्री ने कहा—मेरी भावना के प्रतिकूल लावासरदारगढ़ में क्यों रहा?

मोजीरामजी बोले—'गुरुदेव! मुझे इसकी कोई जानकारी नहीं थी। यदि मुझे यह ज्ञात होता तो मैं वहां एक दिन भी नहीं रुकता। बड़ी विनम्रता से उन्होंने स्थिति स्पष्ट की और आचार्य भारीमालजी को विश्वास दिलाया। उसके बाद आचार्यश्री ने साधु-साध्वियों को आदेश दिया—'वंदना करो' साधु जो पैर पर पैर थामे खड़े थे, आगे बढ़े। वात्सल्य और विनय की सरिता बह चली।

युग की अपेक्षा

अनुशासन एक चोट है। उसे हर कोई आदमी सह नहीं सकता। चोट या तो धीर आदमी सहता है या हीरा और सोना सह सकता है।

काच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजै प्रेम।
कसणी तो धीरा सहै, कै हीरा कै हेम।।

मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी ने कई बार आचार्यश्री तुलसी से कहा—'आप मुझे सबके सामने उलाहना दिया करें।' उनकी यही भावना अनुशासन के प्रति एक महान आहुति थी।

वर्तमान युग अनुशासन की दृष्टि से बड़ा दरिद्र है। उसकी शेष समृद्धि इस दरिद्रता के आवरण में ढंक-सी रही है। युग की अपेक्षा है—अनुशासन का विकास हो, पर वह नहीं हो रहा है। इसका कारण है—अभी भी विनय और गुलामी को एक समझने की भूल हो रही है। तेरापंथ ने इस भूल को आश्रय नहीं दिया। उसकी धारणा में सदा यह स्पष्टता रही है कि विनय और गुलामी एक नहीं है। अभिमान-विसर्जन और हीन-भावना एक नहीं है, इसीलिए यह अनुशासन की गरिमा को जीवित रख सका है। ❖

मोक्ष वह है, जो सिखाता है कि इहलोक और परलोक दोनों का सुख गुलामी है, क्योंकि इस प्रकृति के नियमों के परे न कोई इहलोक है और न परलोक।

—विवेकानंद

भारत एक ऐसा देश है, जहां भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन को फलने-फूलने का मौका मिला है। अनेकांत लोकतंत्र की आधारशिला है। सापेक्षता, समानता, सहअस्तित्व और स्वतंत्रता अनेकांत के घटक तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर लोकतंत्र चल सकता है। भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा था— 'आज का लोकतंत्र भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन का फलित है।' लोकतंत्र में आस्था रखने वाले लोग अनेकांत दर्शन का उपयोग करें तो लोकतंत्र की सफलता में संदेह नहीं रहेगा।

लोकतंत्र की मर्यादाएं

❑ आचार्यश्री तुलसी

विश्व में अनेक प्रकार की शासन प्रणालियां प्रचलित रही हैं। उनमें गणतंत्र, राजतंत्र, अधिनायकतंत्र, लोकतंत्र आदि प्रमुख हैं। इनमें कौन-सा तंत्र अच्छा है? इस प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर नहीं हो सकता। प्रत्येक तंत्र में कुछ अच्छाइयां और कुछ कमियां हो सकती हैं। अब तक कोई भी तंत्र समग्र रूप से सही प्रमाणित नहीं हो पाया है। फिर भी वर्तमान में हवा का रुख लोकतंत्र की ओर प्रतीत हो रहा है। विश्व के अनेक देशों में लोकतांत्रिक पद्धति से राज्य का संचालन हो रहा है। जहां लोकतंत्र नहीं है, वहां के लोग यह सपना देख रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्य तंत्रों की तुलना में लोकतंत्र के प्रति जनआस्था प्रबल है।

लोकतंत्र की श्रेष्ठता के अनेक कारण हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें प्रत्येक व्यक्ति को शिखर तक पहुंचने का अवसर मिल सकता है। अन्य तंत्रों में सामूहिक नेतृत्व की परंपरा हो या एकल नेतृत्व की, हर व्यक्ति को शीर्ष पर देखने की कल्पना ही नहीं हो सकती। एकतंत्र और अधिनायकतंत्र में सत्ता के विरोध में बोलने वाला निश्चिंत होकर नहीं जी सकता। इतिहास बताता है कि ऐसे व्यक्ति को अनेक प्रकार की यातनाएं अथवा मृत्युदंड झेलने के लिए तैयार रहना पड़ता है। जबकि लोकतंत्र में राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री को भी न्यायालय के कटघरे में खड़ा किया जा सकता है। जन-आकांक्षाओं की पूर्ति का अवकाश जितना लोकतंत्र में है, एकतंत्र में नहीं हो सकता।

लोकतंत्र असफल क्यों?

लोकतंत्र में अच्छाइयों की प्रबल संभावना के बावजूद वह पूर्णतः सफल नहीं हो रहा है, यह चिंता का विषय है। लोकतंत्र की असफलता के कारणों की मीमांसा की जाए तो एक लंबी कारण-शृंखला उपस्थित की जा सकती है। पर देखना यह है कि उससे लाभ क्या होगा? जनता में थोड़ी-बहुत आस्था इस तंत्र के प्रति बची है, वह भी समाप्त हो जाएगी। मेरा अपना अभिमत यह है कि कोई भी तंत्र, मंत्र या यंत्र तब तक सफल नहीं होगा, जब तक मनुष्य, सही मनुष्य नहीं होगा। तंत्र का संचालक मनुष्य होता है। वह संचालन में जितनी अनैतिकता करेगा, तंत्र उतना ही विकृत होता जाएगा। विकृत तंत्र के आधार पर स्वस्थ समाज या राष्ट्र की परिकल्पना ही बेमानी है।

लोकतंत्र सर्वोत्तम शासन-तंत्र है, यदि उस तंत्र को संचालित करने वाले और उसका चयन करने वाले व्यक्ति सही हैं। लोकतंत्र सबसे दुर्बल शासन-तंत्र है, यदि नेता और जनता सही नहीं हैं। लोकतंत्र में लिखने, बोलने और सोचने की स्वतंत्रता है। पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि व्यक्ति उच्छृंखल हो जाए। लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को सत्ता के सिंहासन पर बैठने का अधिकार है। पर चरित्रबल और बुद्धिबल से शून्य व्यक्ति के हाथों में सत्ता आती है, तब उसका क्या परिणाम हो सकता है?

हर युग का वर्तमान सत्य को सूली पर चढ़ाता है और भविष्य उसकी आरती उतारता है। भारतीय लोकतांत्रिक शासन प्रणाली का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। ब्रिटिश शासन को अलविदा कह कर भारतीय राजनीति के शिखर पुरुषों ने लोकतंत्र को स्वीकार किया। ब्रिटिश शासन से विरासत में प्राप्त इस शासन प्रणाली को विवेकपूर्वक अपनाया गया या इसे अपनाने की बाध्यता थी? यह प्रश्न

आधी सदी के पहले के अतीत में झांकने के लिए विवश करता है। उस समय भारत में स्वतंत्रता की लहर थी। देश की युवापीढ़ी उस लहर से प्रभावित थी। महात्मा गांधी का नेतृत्व युवकों के लिए बहुत बड़ा आश्वासन था। उन्होंने आजादी के लिए यातनाएं झेलीं। उनके प्रेरणास्रोत गांधी अहिंसा के उपासक थे। उन्होंने अहिंसा के दुर्भेद्य किले में खड़े होकर भारत को स्वतंत्र कराया। स्वतंत्रता से पहले उनके सामने परिस्थितियां इतनी अनुकूल नहीं थीं और स्वतंत्रता के बाद हत्या हो गई। वे रहते तो संभवतः लोकचेतना में लोकतंत्र के अनुकूल विवेक जगा देते। स्वतंत्रता प्राप्त करना एक बात है और उस एहसास को जीना एक बात है। स्वतंत्र भारत के नागरिकों की मनोदशा आज भी स्वस्थ नहीं है। वे लोकतंत्र में जीते हुए भी अलोकतांत्रिक दुरवस्थाएं भोग रहे हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्र का स्वीकार प्रवाहपाती मानसिकता में हुआ है। उसके लिए किसी प्रकार की पूर्व तैयारी नहीं थी।

प्यास थी, पर पानी की व्यवस्था नहीं

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को स्वीकार करने की मानसिकता के बिना ही भारत आजाद हो गया। इस बात को संभवतः कोई भी स्वीकार न करे। क्योंकि वह समय दासता की बेड़ियों में छटपटाने का समय था। हर एक व्यक्ति का मानस खुले आकाश में उड़ान भरने के लिए आतुर था। वे दिन मैंने भी देखे हैं। बचपन में एक कस्बे में रहने पर भी देशभक्ति से ओत-प्रोत गीत सुने थे। किशोरों के मन में भी परतंत्रता की पीड़ा थी। किंतु इसे तैयारी नहीं कह सकते। यह एक अभीप्सा थी। देश को स्वतंत्र कराने की भावना का वेग था। लोकतंत्र के लिए तैयारी का अर्थ है लोक प्रशिक्षण। क्या कभी भारतीय जनता को लोकतंत्र के मायने समझाए गए? क्या कभी जनता को विधिवत् प्रशिक्षण दिया गया? लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता का क्या दायित्व होता है, यह किसी को बताया गया? दायित्व-बोध के साथ दायित्व-निर्वाह की प्रेरणा जगाई गई? इन सब प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक हो तो मानना चाहिए कि स्वतंत्रता की प्यास गहरी थी, किंतु पानी पीने की कोई व्यवस्था नहीं थी। व्यवस्था के अभाव में लोकतंत्र की दुरवस्था हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

लोक-प्रशिक्षण के बिंदु

लोकतंत्र का प्राणतत्त्व है लोक-प्रशिक्षण। यह बहुत पहले होना चाहिए था। पचास वर्ष बाद तक वह नहीं हो पाता है तो दोष किसका? इसके लिए जनता को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि भीड़ का कोई वाद नहीं होता। राष्ट्र के संचालक नीति-निर्धारण करते हैं और उसे लागू करते हैं। किसी भी वाद के प्रवर्तन से पहले उसका शिक्षा में प्रवेश आवश्यक है। देश के करोड़ों विद्यार्थियों को लोकतंत्र का प्रशिक्षण दिया जाता तो आज घर-घर में लोकतंत्र की सटीक व्याख्या करने वाले और उसके अनुसार जीवन जीने वाले लोग मिल जाते। लेकिन आज विद्यार्थियों ने जिस रूप में लोकतंत्र को समझा है, वे उसे केवल वोट बटोरने का साधन मानते हैं। जैसे-तैसे वोट लेना और देना—यह विद्यार्थियों की शिक्षा का एक अंग बनता जा रहा है। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की तो बात ही क्या, इसके लिए विद्यालयों में ही संघर्ष शुरू हो जाते हैं।

इस स्थिति से उबरने का सार्थक और सफल उपाय है—लोकतंत्र का समुचित प्रशिक्षण। इस प्रशिक्षण के कुछ बिंदु निम्नलिखित हो सकते हैं—

- लोक क्या है? उसे कैसा होना चाहिए?
- तंत्र क्या है? भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक बुनावट के अनुसार तंत्र को कैसे ढालना चाहिए?
- वोट क्या है? उसका क्या मूल्य है?
- वोट लेने का अधिकारी कौन है? उसकी क्या अर्हताएं होनी चाहिए?
- वोट देने का अधिकारी कौन है?
- चुनाव की प्रक्रिया क्या है और उसके लिए प्रचार-प्रसार की सीमाएं क्या होनी चाहिए?
- चुनाव के परिणाम को जय-पराजय की भावना से ऊपर उठकर सहज रूप से कैसे स्वीकारा जाए?
- चुनाव में बहुमत पाने वाले प्रत्याशियों का देश और अपने क्षेत्र की जनता के प्रति क्या दायित्व है?

इसी प्रकार के कुछ और बिंदु भी हो सकते हैं जो चुनाव प्रक्रिया को भय, प्रलोभन, हिंसा, अन्याय आदि दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त कर सही अर्थ में लोकतंत्र को प्रभावी बना सकते हैं। अब तक मानवीय मूल्यों के लोक-प्रशिक्षण का उपक्रम प्रारंभ न होने के दुष्परिणाम पूरे देश को भोगने पड़ रहे हैं। 'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेह' को एक बोधपाठ मानकर इस दिशा में कोई कारगर प्रयत्न किया गया तो आने वाली पीढ़ियों को ठीक किया जा सकता है।

शिक्षा के माध्यम से लोक-प्रशिक्षण की वकालत करने वाले कह सकते हैं कि प्रशिक्षण के अभाव में डॉक्टर, वैज्ञानिक, इंजीनियर आदि कैसे बनते? इस संदर्भ में सापेक्ष दृष्टिकोण से विचार करने की अपेक्षा है। ये लोग प्रशिक्षित

होंते हैं, पर अपने-अपने पेशे में। यों भी कहा जा सकता है कि इन्हें पैसा बटोरने का प्रशिक्षण दिया जाता है। जब तक मानवीय मूल्यों का प्रशिक्षण नहीं मिलेगा, समस्या समाहित नहीं होगी। आज मूल्यपरक शिक्षा की बात भी चल रही है, किंतु उसके साथ प्रायोगिक पक्ष नहीं होने से वह रूपांतरण में सफल नहीं हो पा रही है। अणुव्रत और जीवन विज्ञान के द्वारा इस क्षेत्र में कुछ काम करने का प्रयास किया गया है। जहां-जहां काम हुआ है, वहां कुछ संभावना भी बढ़ी है। आवश्यकता है व्यापक स्तर पर लोगों को प्रशिक्षित करने की, अन्यथा समय हाथ से निकल जाएगा और विश्व के इतने बड़े लोकतांत्रिक देश में जो कुछ होना चाहिए, वह नहीं हो पाएगा।

अच्छे व्यक्तियों की कमी नहीं

कुछ लोगों का चिंतन है कि किसी भी प्रत्याशी को वोट नहीं देना चाहिए। उनकी दृष्टि में कोई भी प्रत्याशी निष्कलंक नहीं है। सबके सब चोर हैं। कोई बड़ा चोर है तो कोई छोटा चोर है। इस चिंतन के साथ मेरी सहमति नहीं है। देश में अच्छे व्यक्ति नहीं है, यह सचाई नहीं है। अच्छे व्यक्ति बहुत हैं। हो सकता है, वे भूमिगत हैं। सबके सामने नहीं आते हैं। हो सकता है, वे निस्पृह हैं। देश की राजनीति में रस नहीं लेते हैं। हो सकता है, वे उदासीन हैं। किसी प्रपंच में फंसना नहीं चाहते हैं। हो सकता है, वे भयभीत हैं। भय के कारण बोल नहीं पाते हैं। इसलिए सब लोगों को एक ही बटखरे से तोलना ठीक नहीं है।

लोकतंत्र में वोट मांगने को अवांछनीय नहीं माना जाता। सवाल यह है कि वोट कैसे मांगा जाता है और कैसे दिया जाता है? वोटों के गलियारे से सत्ता के सिंहासन पर पहुंचना बड़ी बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कौन व्यक्ति वहां प्रतिष्ठित हो रहा है और किस तरीके से प्रतिष्ठित हो रहा है? जातीय और सांप्रदायिक आधारों पर होने वाले मतदान मतदाता और उम्मीदवार—दोनों की अर्हता पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं।

चुनावों को लेकर जैसा माहौल बनता है, एक बिंदु पर मतदाताओं को ध्यान देना जरूरी है। वे किसी भी व्यक्ति को अपना मत दें पर जाति, संप्रदाय और पार्टी के आधार पर न दें। वे जिस व्यक्ति को अपना मत दें वह नशेबाज और धोखेबाज न हो। खुले रूप में आर्थिक असदाचार से लिप्त व्यक्ति जनता का हित-संपादन कैसे करेगा? अपराधों के धरातल से जुड़ा व्यक्ति जनता को न्याय कैसे दे सकेगा? जो व्यक्ति वोट पाने के लिए कुछ भी कर सकता है, वह अपनी कुर्सी को बचाने के लिए कुछ भी करने में संकोच क्यों करेगा? प्रांतीय या केंद्रीय किसी भी स्तर पर होने वाले चुनाव में आर्थिक प्रलोभन, मादक द्रव्यों का उपयोग, शस्त्र-शक्ति एवं समाज-कंटकों का सहारा आदि कार्य होते हैं, उससे लोकतंत्र की छवि धूमिल ही होगी।

भारत जैसा महान देश आज संस्कृतियों, मजहबों, कौमों और स्वार्थ प्रेरित राजनीति के आधार पर उभरने वाली पार्टियों में बंटा हुआ है। यह जितना कटु सत्य है, उससे भी बड़ा कटु सत्य यह है कि मनुष्य भी भीतर से बंटा हुआ है। उसकी संवेदना के स्रोत सूखते जा रहे हैं। वह अपना मानसिक संतुलन खो रहा है। उसके आकर्षण का सबसे बड़ा केंद्र अर्थ और सत्ता बन गया है। ऐसी स्थिति में धांधली को कैसे रोका जाएगा? इस बात को लेकर लोग निराश हैं।

लोकसभा की पीठ पर

अणुव्रत का एक कार्यक्रम है चुनाव शुद्धि। अणुव्रती कार्यकर्ता अपनी क्षमता के अनुसार काम में जुटते हैं। लोकतंत्र की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए पूरी तरह से जागरूक रहना जरूरी है। लोकसभा जैसी पवित्र पीठ पर गलत तत्त्व प्रतिष्ठित हो गए तो उसकी पवित्रता सुरक्षित नहीं रह पाएगी।

लोकतंत्र की सफलता के सूत्र

भारत एक ऐसा देश है, जहां भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन को फलने-फूलने का मौका मिला है। अनेकांत लोकतंत्र की आधारशिला है। सापेक्षता, समानता, सहअस्तित्व और स्वतंत्रता अनेकांत के घटक तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर लोकतंत्र चल सकता है। भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा था—'आज का लोकतंत्र भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन का फलित है।' लोकतंत्र में आस्था रखने वाले लोग अनेकांत दर्शन का उपयोग करें तो लोकतंत्र की सफलता में संदेह नहीं रहेगा।

वाणी और चिंतन की स्वतंत्रता का सीधा संबंध अहिंसा के साथ है। बाध्यता हिंसा है। दमन हिंसा है। देश के नागरिकों को सोचने और बोलने की स्वतंत्रता वहीं मिल सकती है, जहां अहिंसा में विश्वास है। सत्ता के विरोध में मुखर लोगों को भी जहां शांति से सहन किया जाता है, लोकतंत्र वहां सफल होता है। विरोधी स्वरों को कुचलने के लिए गोली की भाषा का प्रयोग सर्वथा अलोकतांत्रिक तरीका है। ऐसा तरीका जहां-कहीं अपनाया जाता है, वहां लोकतंत्र की निर्मम हत्या होती है।

लोकतंत्र की रीढ़

शरीर रीढ़ के आधार पर चलता है। लोकतंत्र चुनाव के आधार पर चलता है। इस अर्थ में चुनाव लोकतंत्र की रीढ़ है। चुनाव का लक्ष्य होता है—सही काम के लिए सही व्यक्तियों का चयन। आज की चुनाव प्रक्रिया देखकर लगता है कि मूल लक्ष्य विस्मृत हो गया और जैसे-तैसे सत्ता हथियाना चुनाव का लक्ष्य बन गया। इस चुनाव ने उम्मीदवार, मतदाता और चुनाव आयोग की ही नहीं, लोकतंत्र की गरिमा को धूलिसात् कर दिया है।

एक लड़का मिट्टी खोद रहा था। पिता ने पूछा—'क्या कर रहे हो?' लड़का बोला—'पिताजी! आपका नाम खोज रहा हूं।' पिता ने आश्चर्य के साथ पूछा—'मेरा नाम यहां कैसे मिलेगा?' लड़का बोला—'पिताजी! आपने ही तो कहा था कि मैंने आपका नाम मिट्टी में मिला दिया।' क्या ऐसे लड़के अपने पिता का नाम रोशन कर सकते हैं?

लोकतंत्र के सपूतों ने भी उसके साथ यही किया है। जब देश के नेताओं से कहा जाता है कि वे लोकतंत्र के साथ कैसा खिलवाड़ कर रहे हैं तो उनकी जुबान बंद हो जाती है। लोकतंत्र की न कोई जाति है और न कोई संप्रदाय है। फिर भी उसे जातिवाद और संप्रदायवाद के साथ जोड़ने का दुष्प्रयास हो रहा है। जिस राष्ट्र में जाति, संप्रदाय और अर्थबल के आधार पर चुनाव होगा, वह राष्ट्र लोकतंत्र की विडंबना करता रहेगा।

जरूरी है जटायु वृत्ति को जगाना

लोकतंत्र की जड़ को मजबूत करने के लिए चुनाव की प्रक्रिया को स्वस्थ बनाना जरूरी है। चुनाव की प्रक्रिया गलत होगी तो लोकतंत्र की जड़ खोखली होती रहेगी। इस बात को सब लोग समझते हैं कि चुनावी भ्रष्टाचार द्रौपदी का चीर बन रहा है। किंतु उसका प्रतिवाद करने की क्षमता को पक्षाघात हो गया है। एक गहरी खामोशी, एक गहरी चुप्पी बढ़ती जा रही है। बुराई को देखकर आंख मूंदना या कानों में अंगुलियां डालना उचित नहीं है। उसके विरोध में व्यापक जनचेतना जगाने की अपेक्षा है।

महात्मा गांधी की दृष्टि में भ्रष्टाचार बढ़ने का सबसे बड़ा कारण था 'जटायु वृत्ति' का लोप। रावण ने सीता का अपहरण किया। वह उसे जबरदस्ती अपने विमान में बिठाकर ले जा रहा था। जटायु ने सीता का करुण क्रन्दन सुना। वह जानता था कि रावण के शिकंजे से सीता को मुक्त कराना उसके सामर्थ्य की बात नहीं है। किंतु उसके लिए उसका अर्थ यह नहीं था कि वह बिना लड़े ही सीता का हरण होने दे। उसने मौत को स्वीकार करके रावण का मुकाबला किया। जब तक उसके शरीर में शक्ति रही, वह रावण से लड़ता रहा।

आज भ्रष्टाचार का रावण मानवता-सीता का अपहरण कर ले जा रहा है। करोड़ों लोगों की आंखों के सामने ले जा रहा है, किंतु कोई भी जटायु आगे आकर उसका प्रतिरोध करने की स्थिति में नहीं है। भ्रष्टाचार के प्रति जनता का यह मौन, यह उपेक्षाभाव उसे बढ़ाएगा नहीं तो और क्या करेगा? आज सब राजनीतिक दल, अधिकारी वर्ग, सरकारी और गैरसरकारी तंत्र एवं जनता—सब यह अनुभव कर रहे हैं कि चुनाव की पद्धति गलत है। भ्रष्टाचार के आरोपों से नहीं, वास्तविक भ्रष्टाचार से लिप्त है। चुनाव जीतने के लिए पैसे को पानी की तरह बहाया जा रहा है, इस कारण वह भारभूत है। किंतु सुधार की दिशा में कोई एक चरण भी नहीं उठा रहा है।

आज लोकतंत्र से भी ऊपर स्वार्थतंत्र का बोलबाला है। उसके सामने राष्ट्र, संविधान और जनता, सब गौण हैं। यदि ऐसे समय में व्यक्ति-व्यक्ति की जटायु वृत्ति को जगाया जा सके और चुनावी भ्रष्टाचार के विरोध में शक्तिशाली समवेत स्वर उठ सके, उस स्वर को स्थायित्व मिल सके तो लोकतंत्र की जड़ों को सिंचन मिल सकता है।

लोकतंत्र के सारथियों की अर्हता

लोकतंत्र का रथ कीचड़ में फंसा है। रथ के सारथि उसे कीचड़ से बाहर निकालना चाहते हैं, पर निकालने की कला से अनभिज्ञ हैं। वे जितनी शक्ति लगा रहे हैं, रथ उतना ही गहरा धंसता जा रहा है। कारण साफ है। सारथि योग्य नहीं हैं। उनकी योग्यता के लिए कोई मानक भी निर्धारित नहीं हैं। सत्ता और अर्थ के प्रभाव अथवा जाति और संप्रदाय की प्रतिबद्धता से लोकसभा और विधानसभाओं के टिकिट मिलते हैं। मतदाता प्रलोभन, भय और प्रतिबद्धता के घेरे में खड़ा है। वोट बटोरने के लिए वांछनीय एवं अवांछनीय सभी प्रकार के उपाय काम में लिए जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में योग्य व्यक्तियों का चयन कैसे होगा?

जो लोग लोकतंत्र का रथ हांक रहे हैं, उनके प्रशिक्षण की भी कोई व्यवस्था नहीं है। अबोध बच्चों को पढ़ाने के लिए प्रशिक्षित अध्यापक का चयन होता है, किंतु राष्ट्र का संचालन करने के लिए न शैक्षिक योग्यता की अपेक्षा है और न आंतरिक अर्हता की। संयम, आत्मानुशासन, सहिष्णुता, प्रामाणिकता जैसे मूल्यों को अर्हता की कसौटियों के रूप में स्वीकार किया जाए तो युग के चालू प्रवाह को मोड़ा जा सकता है।

अणुव्रत आंदोलन का एक कार्यक्रम है—लोकतंत्र की शुद्धि। ईसवी सन् 1949 से यह नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों को लोकजीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए काम कर रहा है। चुनाव की प्रक्रिया को परिष्कृत करने की दृष्टि से अणुव्रत ने कुछ मानक प्रस्तुत किए हैं। उसके अनुसार वोट का अधिकारी वह व्यक्ति है—

- जो ईमानदार हो।
- जो नशामुक्त हो।
- जो चरित्रवान हो।
- जो कार्यनिपुण हो।
- जो जाति और संप्रदाय से बंधा हुआ न हो।

जिस राष्ट्र का लोक जागृत नहीं होता, उसका तंत्र स्वस्थ नहीं हो सकता। लोकतंत्र को स्वस्थ और विश्वस्त बनाना है तो ऐसे प्रत्याशी का चयन करना होगा जो उपर्युक्त अर्हताओं से संपन्न हो। चयन का दायित्व लोक पर है। इसीलिए लोकमत को चरित्र के पक्ष में करना जरूरी है। जिस दिन मतदाता और प्रत्याशी चरित्र के आधार पर चुनाव के महासमर में उतरेंगे, उसी दिन लोकतंत्र को विजयश्री प्राप्त हो सकेगी।

❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3 पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता 700001

तार : तेरापंथी दूरभाष : 2357956, 2357269

महासभा के 87वें वार्षिक अधिवेशन की सूचना

महोदय,

महासभा का 87वां वार्षिक अधिवेशन आगामी माघ शुक्ल 6 दिनांक 30 जनवरी 2001 को सायं 7.00 बजे गंगाशहर (राजस्थान) में होगा, जिसमें निम्न विषयों पर विचार होगा :

- महासभा के 86वें वार्षिक अधिवेशन की कार्यवाही का पठन व स्वीकृति।
- महासभा के 87वें वर्ष के महामंत्री के वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार व स्वीकृति।
- महासभा के हिसाब परीक्षक द्वारा अंकेक्षित, महासभा के 1 अप्रैल 99 से मार्च 2000 तक के आय-व्यय लेखा की स्वीकृति।
- आए हुए प्रस्तावों एवं सुझावों पर विचार।
- विविध—अध्यक्ष महोदय की अनुमति से।

महासभा के वार्षिक अधिवेशन में सभी सदस्यों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है।

भवदीय

भंवरलाल सिंघी

महामंत्री

जैनधर्म ने मोक्ष को सांप्रदायिक कटघरे से निकाल कर जो अस्मिता/व्यापकता/उन्मुक्त क्षेत्र दिया है, वह संप्रदायातीत चेतना को जगाने में एक महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ है। जैनधर्म के अनुसार—'धर्म आकाश की भांति व्यापक है। वह किसी संप्रदाय विशेष की धरोहर नहीं है। वह जीवन-व्यापी सत्य है, जो कहीं भी, कभी भी, किसी को भी, प्राप्त हो सकता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए अमुक-अमुक संप्रदाय की ही साधना करनी होती है, यह जैन दर्शन को कभी मान्य नहीं रहा।

संप्रदायातीत चेतना

❑ मुनि धनंजय कुमार

जैनधर्म में विश्वधर्म बनने की क्षमता है? यह स्वर अनेक बार मुखरित हुआ है। विश्वधर्म वही बन सकता है जिसका दृष्टिकोण व्यापक हो, जिसका आचार और विचार पक्ष सबके लिए हो। जैनधर्म की कुछ स्थापनाएं ऐसी हैं जो उसके सार्वभौम चिंतन को प्रमाणित करती हैं। जैनधर्म की कुछ उद्घोषणाओं ने उसे जनधर्म के रूप में प्रतिष्ठित होने का आधार दिया है।

जिसने धर्म को कभी नहीं सुना-समझा है, वह व्यक्ति भी केवलज्ञानी/सर्वज्ञ हो सकता है। इस उद्घोषणा से संप्रदायातीत धर्म का स्वर प्रस्फुटित होता है। इस अर्थ में प्रयुक्त 'असोच्चा केवली' बहुत ही प्रसिद्ध सूक्त रहा है। जैनधर्म के इस पारिभाषिक शब्द से एक व्यापक/सार्वभौम सत्य ध्वनित होता है। भगवती सूत्र का पूरा एक प्रकरण इस शब्द को समग्रता से मीमांसित करता है।[1] 'पढमं नाणं तओ दया', 'अन्नाणी किं काही किं वा नाही हि छेय पावंग' आदि अनेक सूत्र ज्ञान के माहात्म्य को व्यक्त करते हैं, लेकिन वे सब सापेक्ष हैं। असोच्चा केवली के प्रकरण से प्रस्थापित होता है कि धर्म दो प्रकार का है—प्रवर्तित और नैसर्गिक। प्रवर्तित धर्म में कोई भी व्यक्ति धर्म को सुनकर उस पर श्रद्धा-आचरण करता है। नैसर्गिक धर्म वह होता है जिसमें मनुष्य न किसी धर्म को सुनता है न किसी धर्म का अनुयायी (श्रावक) होता है, न ही वह किसी धर्म को जानता है। धार्मिक/धर्माचार्य/केवलज्ञानी से उसका दूर तक कोई रिश्ता नहीं होता, फिर भी वह अनेक प्रकार की विशिष्ट क्षमताओं को जागृत/प्राप्त कर लेता है।

ऐसे दृष्टिकोण वाले व्यक्ति को वे ही क्षमताएं हासिल हो सकती हैं जो धार्मिक/धर्माचार्य/धर्मश्रोता/धर्मोपासक को प्राप्त होती हैं। भगवती सूत्र के अनुसार ऐसा व्यक्ति ग्यारह प्रकार की विशिष्ट क्षमताओं को अर्जित/अधिगत कर सकता है। वे ये हैं—

1. ज्ञानावरण का क्षयोपशम	ज्ञान
2. दर्शनावरण का क्षयोपशम	दर्शन
3. धर्मांतराय का क्षयोपशम	अनगार
4. चरित्रावरण का क्षयोपशम	ब्रह्मचर्यवास
5. यतनावरण का क्षयोपशम	संयम
6. अध्यवसायावरण का क्षयोपशम	संवर
7. आभिनिबोधिक ज्ञानावरण का क्षयोपशम	मतिज्ञान
8. श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम	श्रुतज्ञान
9. अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम	अवधिज्ञान
10. मनपर्यवज्ञानावरण का क्षयोपशम	मनपर्यवज्ञान
11. केवलज्ञानावरण का क्षयोपशम	केवलज्ञान

भगवती के टीकाकार ने 'असोच्चा' का अर्थ किया है—धर्म के प्रतिपादक वचन को न सुनकर पूर्वकृत धर्मानुराग से ही विशिष्ट उपलब्धि अर्जित करने वाला।[2]

असोच्चा कौन होता है, इसे स्पष्ट करते हुए उसके दस प्रकार बतलाए गए हैं—केवलि, केवलि श्रावक, केवलि श्राविका, केवलि उपासक, केवलि उपासिका, स्वयं बुद्ध, स्वयं बुद्ध श्रावक, स्वयं बुद्ध श्राविका, स्वयं बुद्ध उपासक, स्वयं बुद्ध उपासिका—इन दस प्रकार के व्यक्तियों से जिसने संपर्क/धर्म श्रवण नहीं किया है, वह असोच्चा कहलाता है।[3]

ऐसे व्यक्ति को ये विशिष्ट क्षमताएं कैसे प्राप्त होती हैं, इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार दिया गया है—'गिरि सरित् उपलघोलनान्यायेन[4] जिस प्रकार नदी के प्रवाह में बहता हुआ पत्थर घिस-घिस कर अपने आप गोल/चिकना

बन जाता है उसी प्रकार सहज होने वाले क्षयोपशम से आवरण अपने आप शनैः शनैः हट/मिट जाते हैं।

आत्म स्वरूप/चैतन्य अनेक सघन परतों/आवरणों से ढका रहता है। निरंतर सहज गतिशील क्षयोपशम की प्रक्रिया से वे परतें/आवरण पतले पड़ते चले जाते हैं। आवृत आत्म-स्वरूप/चैतन्य अनावृत होता चला जाता है। ठीक वैसे ही राख से ढकी हुई आग की भांति सुप्त चैतन्य उसके दूर होते ही स्वच्छ/प्रज्वलित हो उठता है।

एक व्यक्ति धर्म को जाने-सुने बिना विशिष्टताएं उपलब्ध करता है और एक व्यक्ति धर्म को भली-भांति जान-सुनकर और तथारूप आचरण कर विशिष्ट क्षमताएं अर्जित करता है। उन दोनों व्यक्तियों के गुण-प्रकृति आदि में कितना साम्य और कितना असाम्य है—यह भी प्रतिपादित किया गया है।

समानताएं—

- योग—मन-वचन-काया
- उपयोग—साकार-अनाकार
- संहनन—वज्र ऋषभ नाराच
- संस्थान—अन्यतर
- आयुष्य—जघन्य सातिरेक आठ वर्ष, उत्कृष्ट क्रोड़ पूर्व
- ऊंचाई—जघन्य सात रत्नी, उत्कृष्ट पांच सौ धनुष्य
- निर्वाण—सब दुखों का अंत कर मोक्ष जाते हैं।
- कहां होते हैं—ऊर्ध्व, अधः तिर्यक् (तीनों लोकों में)।[5]

असमानताएं—

असोच्चा	सोच्चा
1. लेश्या—तीन विशुद्ध	1. लेश्या—छह
2. ज्ञान—प्रथम तीन	2. ज्ञान—तीन या चार
3. कषायी—सकषायी	3. सकषायी-अकषायी (क्षीण कषाय)
4. वेद—पुरुष, पुरुष कृत नपुंसक	4. वेदी—पुरुष वेद, स्त्री वेद, पुरुष नपुंसक वेद, अवेदी (क्षीण वेद)
5. कषाय—संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ	5. कषाय—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन मान माया लोभ, संज्वलन माया लोभ, संज्वलन लोभ।
6. धर्मोपदेश देते हैं, प्ररूपणा, प्रव्रज्या नहीं देते, शिष्य, प्रशिष्य नहीं होते।	6. धर्मोपदेश, धर्म प्ररूपणा, धर्म प्रवर्तन करते हैं, प्रव्रज्या देते हैं, इनके शिष्य, प्रशिष्य मुक्त होते हैं।
7. असोच्चा केवली एक समय में न्यूनतम 1, 2, 3 जन तक, अधिकतम 10 होते हैं।	7. जघन्यतः 1. 2. 3 उत्कृष्ट 108 होते हैं।[6]

सार्वभौम धर्म का यह एक विरल/अनूठा/महान दस्तावेज है। असोच्चा केवली के इस सिद्धांत की पुष्टि यौगलिक जीवों के जीवंत चरित्र से भी होती है। यौगलिक जीव, जो धर्म को नहीं सुनते/जानते किन्तु सहज प्रकृति भद्र, प्रतनु-कषाय, प्रकृति उपशांत होते हैं, वे ऊंची गति में चले जाते हैं।[7] 'असोच्चा केवलि' के इस सिद्धांत ने जाति, वर्ण, भाषा, लिंग, संप्रदाय से आबद्ध धर्म पर करारी चोट की है।

जैनधर्म ने मोक्ष को सांप्रदायिक कटघरे से निकाल कर जो अस्मिता/व्यापकता/उन्मुक्त क्षेत्र दिया है, वह संप्रदायातीत चेतना को जगाने में एक महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ है। जैनधर्म के अनुसार—'धर्म आकाश की भांति व्यापक है। वह किसी संप्रदाय विशेष की धरोहर नहीं है। वह जीवन-व्यापी सत्य है, जो कहीं भी, कभी भी, किसी को भी प्राप्त हो सकता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए अमुक-अमुक संप्रदाय की ही साधना करनी होती है, यह जैन दर्शन को कभी मान्य नहीं रहा। जैसे जैन संप्रदाय में धर्म की आराधना कर व्यक्ति मुक्त हो सकता है वैसे ही अन्य संप्रदाय में धर्म की आराधना कर व्यक्ति मुक्त हो सकता है। नंदी सूत्र में सिद्धों के पंद्रह भेद बताए गए हैं, जो संपूर्ण मानव समाज को सम्यक्/समान रूप से मोक्ष पाने का अधिकार प्रदान करते हैं। ये पंद्रह भेद निम्नोक्त हैं—

1. तीर्थ सिद्ध
2. अतीर्थ सिद्ध
3. तीर्थंकर सिद्ध
4. अतीर्थंकर सिद्ध
5. स्वयं बुद्ध
6. प्रत्येक बुद्ध

7. बुद्ध बोधित
8. स्त्रीलिंग सिद्ध
9. पुल्लिंग सिद्ध
10. नपुंसकलिंग सिद्ध
11. स्वलिंग सिद्ध
12. अन्यलिंग सिद्ध
13. गृहलिंग सिद्ध
14. एक सिद्ध
15. अनेक सिद्ध[8]

इस वर्गीकरण से जहां एक ओर मनुष्य की श्रेष्ठता उजागर हुई है वहीं दूसरी ओर उसका आदर्श/गंतव्य स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आया है। मनुष्य के पराक्रम/श्रद्धा/अप्रमाद को बल देने में यह कारगर सिद्ध हुआ है। संप्रदायातीत धर्म के स्वरूप को विभिन्न प्रकार से विभिन्न स्थानों पर विभिन्न संदर्भों में अभिव्यक्ति/प्रस्तुति देकर जैनधर्म ने एक महान, अविस्मरणीय अनुदान दिया है। 'असोच्चा केवली' उसका एक जीवंत निदर्शन है। ❖

संदर्भ

1. भगवती शतक 9, उद्देशक 31, सूत्र 32।
2. भगवती टीका, पृ. 792 'धर्मफल प्रतिपादक वचन मनाकर्ण्य प्राक्कृत धर्मानुरागादेव।'
3. भगवती 21.9, उ. 31 सूत्र।
4. भगवती टीका, पृ. 793 'गिरिसरिदुपलघोलनान्यायेनापि कस्यचित् स्यात्, तत् सद्भावे चाश्रुत्वापि धर्मं लभते श्रोतुं, क्षयोपशमस्यैव तल्लाभेन्तरंग कारकत्वादिति।'
5. भगवती शतक 9, सूत्र 36-41, 44, 45, 49, 50, 58, 63, 66, 67, 71, 74।
6. भगवती शतक 9, सूत्र 33, 34, 42, 43, 47, 48, 51, 56, 57, 64, 65, 69, 70, 72, 73।
7. जीवा जीवांमिगम 3/598, 603।
8. नंदी 31।

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों- कविताओं का स्वागत है

•

प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•

लिखावट साफ-सुथरी बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

...घुंघराले, लहरदार बालों के नीचे उसने श्वेत कमल-सा एक चेहरा देखा। पूरे चेहरे पर मृदुता की क्षीण बदली छाई थी और नीली आंखों में एक अजानी वेदना झलक रही थी। दोनों गालों पर दो नन्हे अश्रुबिंदु कमल की पंखुड़ी पर पड़े ओसकणों जैसे लग रहे थे। नीले रंग का एक वस्त्र उसने पहन रखा था और पांव फैलाकर वह बैठा था। उसका रूप-रंग इतना मनोरम था कि वह देवपुत्र मालूम पड़ता था, जो सामने फैली विशाल धरती पर रास्ता भटक गया हो और अपनी मां से बिछुड़ कर उसके लिए तरसता हुआ आकाश में नजरें टिकाए आंखों से आंसू की बूंदें टपका रहा हो।...

प्रेम के आंसू

❑ कुंदनिका कापड़िया

सरयू का विवाह आखिर अनंत के साथ तय हो गया। सभी को ऐसा वर और ऐसा घर पसंद आया। सरयू को भी इसमें कोई खास आपत्ति नहीं थी। यद्यपि अनंत दूजवर था, फिर भी उसकी उम्र कुछ ज्यादा नहीं थी। अपने लंबे कद, गेहुंए रंग और छरहरी देह के कारण वह आकर्षक दिखता था। उसके घर की सारे शहर में अच्छी प्रतिष्ठा थी। डॉक्टर के रूप में उसने हाल ही में काम की शुरुआत की थी, फिर भी उसका नाम शहर में विख्यात हो गया था। ऐसे वर को लेकर सरयू का मना करने का कोई कारण नहीं था। लेकिन उसे एक बात खटकती थी—अनंत की पहली पत्नी का पांच वर्ष का बालक। विवाह के तत्काल बाद पांच वर्ष के बालक की मां बनना पड़ेगा—यह विचार उसके उल्लास को, उसके नवयौवन के सपनों को, उसके मनपाखी की आनंद-भरी उड़ान को जिम्मेदारी की डोर से जकड़ देता था, और ऊपर से वह बालक अपंग था!

ऐसे अपंग बालक की जाते ही फौरन देखभाल करनी पड़ेगी, सुबह से रात तक बच्चे के सारे धंधे संभालने पड़ेंगे। इस खयाल से उसे ऐसा लगता मानो वह अनंत के घर 'आया' बनकर जा रही हो। वैसे वहां सास, ननद, देवर वगैरह बहुत-से लोग थे और परिवार बड़ा था। लेकिन इसके बावजूद वह एक संस्कारशील युवती थी, इसलिए अपने मन के संतोष के लिए भी माता के दायित्व से मुक्त हो पाना उसके लिए संभव न था। बस, यह एक ही बात उसे उदास कर देती, विवाह के प्रति उसके उत्साह को मंद कर देती थी; पर वह अपना विरोध कुछ तो संकोच और कुछ संस्कारिता के हनन के कारण प्रकट नहीं कर पाती थी; और विवाह का दिन भी पक्का हो गया।

अनंत का यह बालक पहले से ही अपंग न था। जन्म के समय तो वह बहुत स्वस्थ और सुंदर था। उसमें एक विशेषता थी। वह अपनी मां को बहुत चाहता था। वह कितना ही रोता, किसी के भी पुचकारने पर न मानता, पर अपनी मां को आते देख वह रोना भूल कर इतना मधुर मुस्कराता कि मां दौड़ कर उसे गोद में उठा लेती और उसका माथा चूमती। तब उसे ऐसा लगता मानो वह स्वर्ग में बैठा आनंद की अनंतधारा में स्नान कर रहा हो। दूसरे बच्चे जब गली में इकट्ठे होकर शरारतें करते, तब किरण रसोई में अपनी मां से चिपटा रहता। कभी पीछे से अचानक आकर वह कामकाज करती मां को परेशान कर देता और फिर मां के सामने आकर खिल-खिलाहट करता हंस पड़ता। इस तरह हंसते हुए जब वह मां को देखता तो उसकी दोनों आंखों से ऐसा प्रेम बरसता कि सभी मजाक में सुशीला से कहते—'बेटे तो बहुतों के होते हैं, पर तेरे बेटे की तो बात ही निराली है।' सुशीला कुछ भी उत्तर दिए बिना मंद-मंद मुस्कराती। बेटा इतना प्यारा था कि वह उसे भगवान की संपत्ति समझकर संभालती। उसकी शैतानियों से कई बार वह परेशान हो जाती, फिर भी वह उसे अपनी नजर से ओझल नहीं होने देती। इस प्रकार अपनी शरारतों से बेटा अपनी मां के आसपास ही सदा बना रहता, मानो वह उसकी छाया ही बन गया हो।

किंतु एक दिन मां-बेटे की सुख की अविच्छिन्न धारा में अवरोध आ पड़ा। किरण एकाएक सख्त बीमार पड़ गया।

पहले चार दिन तो उसे बुखार आया और पांचवें दिन से नसें तनने लगीं। थोड़ी-थोड़ी देर में उसके हाथ-पैर खिंचने लगते, मुंह में झाग भर जाते और आंखें ऊपर चढ़ जातीं। बठीठे खत्म होने पर ऐसा लगता जैसे लड़का मृत्यु के द्वार पर जाकर लौट आया हो। चेहरा पीला पड़ जाता और होश आने पर वह व्याकुल, भीगी नजरों से मां को देखता रहता।

बेचारी सुशीला बहुत घबरा गई थी। अनंत ने फौरन शहर के एक अच्छे अनुभवी डॉक्टर को बुलाया पर वह भी ठीक ढंग से इलाज नहीं कर सका। बच्चे की हालत गंभीर लग रही थी। डॉक्टर ने उन्हें आश्वासन दिया कि घबराने जैसी कोई बात नहीं, सब ठीक हो जाएगा। जाते-जाते अनंत को बुलाकर डॉक्टर ने धीमे से कहा : 'बच्चे की जान को तो कोई खतरा नहीं है, पर संभव है इसका एकाध अंग अपंग हो जाए। निश्चित तो कुछ नहीं कह सकता, पर अगर ऐसा हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।'

किरण के दो दिन असहनीय पीड़ा में बीते। सुशीला बराबर उसके पास बैठी रहती और उसका सिर सहलाती रहती। किरण जब होश में होता तो माथे पर मां का हाथ फिरते देख बहुत चैन महसूस करता। लेकिन जब बठीठे आते और वह बेहोश हो जाता तो उसका समग्र अस्तित्व जैसे उस शांति को पाने के लिए तड़प उठता, खिंचने लगता। पछाड़ खा-खाकर, निराश होकर उसके प्राण मानो गिर-गिर पड़ते। दो दिन तो यही हालत बनी रही, पर तीसरे दिन उसकी तड़फड़ाहट शांत हो गई। चुपचाप बिना बोले वह शांति से पड़ा रहा। न उसने हाथ-पैर उछाले, न किसी तरह की बड़बड़ाहट की। सब ने चैन की सांस ली। पर बड़ी बारीकी से बालक की प्रत्येक क्रिया को देख रही सुशीला ने देखा कि उसके पैर नहीं उछलते, क्योंकि वह पैरों को उछाल नहीं सकता। उसके पैरों में जड़ता आ गई हो, ऐसा लग रहा था। जैसे ऊपर वाले सचेतन अंगों के साथ उनका कोई संपर्क ही न रहा हो! पक्का पता लगाने के लिए उसने बच्चे का एक पैर थोड़ा उठाया और जब वापस रखा तो यह निर्जीव लकड़ी की तरह पड़ गया। पलंग में पड़े पारिजात के फूल जैसे मधुर कोमल बालक की यह दशा देखकर सुशीला की सारी चेतना खो गई। एक चीख मारकर वह बेहोश हो गई।

इस बेहोशी से सुशीला जागी तो उसके जीवन के रंग धुंधले पड़ गए थे और मन में अंधेरी रात जैसा गाढ़ा विषाद छा गया था। यह सुंदर बालक अब नहीं चल सकेगा, जी खोलकर खेल नहीं सकेगा, इस खयाल मात्र से उसका दिल कटने लगता। दुनिया की तमाम समृद्धि इकट्ठी करके चरणों में डाल देने पर भी जिसका मन न पिघले, उस भाग्य-विधात्री के नाम पर सुशीला कई-कई दिनों तक आंसू बहाती रही। पर एक बार जो हो गया था, उसे कौन मिथ्या कर सकता था!

धीरे-धीरे किरण स्वस्थ हो रहा था। किंतु इन थोड़े-से दिनों में उसने जो अपार यातना झेली थी उसकी वजह से उसके ज्ञानतंतु कमजोर पड़ गए थे। दो दिनों बाद सबको मालूम हुआ कि वह अब बोल भी नहीं सकता। सुशीला को जब यह मालूम हुआ तो वह फूट-फूट कर रोई। घर के लोगों को बहुत दुख हुआ। सुशीला की जिंदगी का समूचा ढांचा ही मानो जड़मूल से हिल उठा।

अनंत ने इलाज तो बहुत कराया, पर फल कुछ न निकला। बहुत प्रयत्न करने के बाद किरण ने बैठकर घिसटते-घिसटते थोड़ा चलना सीखा, किंतु उसकी जबान तो खुली ही नहीं।

बीमारी से उठने के बाद किरण मां के प्रति अधिक से अधिक प्रेम जताने लगा। वह कुछ बोल नहीं सकता था। केवल दिन भर अस्फुट स्वर में 'मां-मां' बोला करता, अपने दो नन्हे होंठों से शब्दों को पीता रहता। चलना सीखने के बाद वह अंदर वाले कमरे से रसोई में पहुंच जाता और पहले की ही तरह, पर पहले से भी अधिक गहरे भाव से मां को देखता रहता।

रेशमी फूल जैसे इस बालक की ऐसी दशा देख पाना सुशीला के लिए असहनीय था। वह दिन-दिन और ज्यादा गमगीन होती गई। शाम को जब लड़कों की टोली गली में खेलने के लिए इकट्ठी होती, तो वह देखती कि किरण अकेला बाहर बरामदे के कोने पर बैठा भूरे रंग से घिरे आकाश की ओर टकटकी लगाए देखता रहता है। बादलों से घिरे आकाश में जब एकाध तारा चमक उठता तो उसके चेहरे पर प्रसन्न मधुरता छा जाती और अस्पष्ट स्वर में 'मां'—ऐसा कुछ हल्के-से बुदबुदाता। सुशीला की आंखों में आंसू छलक आते।

इस बालक की मूक भाषा में न मालूम कितनी रहस्यमयी बातों का भंडार भरा था! कई बार वह ऐसी व्यग्र दृष्टि से मां की तरफ देखता मानो अभी उसके हृदय की वेदना बोल उठेगी। पर वह कुछ नहीं बोलता। बरामदे के कोने में बैठा सामने की खुली धरती को मन ही मन सैकड़ों फूल मालाओं से गूंथकर सजाता रहता। कभी उसकी नीली आंखों में ऐसा अद्‌भुत प्रकाश छा जाता कि उससे उसका मुंह और उजला हो जाता। कोई अनिर्वचनीय आनंद उसके अंग-अंग को भर देता। खुले मैदान में दोनों हाथ फैलाकर इस सिरे से

उस सिरे—जहां धरती और आकाश मिलते हैं, तक उसका मन दौड़ लगाने को करता; चांदी जैसे बादलों के झुंड के उस पार पंख फड़फड़ा कर वह उड़ना चाहता; किंतु यह सब सिर्फ सुशीला समझती। बालक के हृदय के साथ उसने ऐसी एकता हासिल कर ली थी कि वह उसकी अनबोली बातों को भलीभांति सुन लेती, उसके मन के कोने-कोने में घूम-फिर कर उसकी सारी बातें समझ लेती। पर इससे तो उसका दुख और भी बढ़ जाता। ये अभिलाषाएं, आशाएं, विशाल आनंद को अणु-अणु भर लेने की असीम कामनाएं—क्या ये सब अधूरी, अव्यक्त और अपूर्ण ही रह जाएंगी? क्या यह इसी तरह जिंदगी के अंत तक सपने ही देखता रहेगा?

सुशीला के हृदय का घाव गहरे से गहरा होता गया। सबने उसे कुम्हलाते, कमजोर होते, रह-रहकर मृत्यु के पास जाते पाया। इसका कारण था किरण की इस मौन अज्ञात प्रसन्नता के पीछे छिपी, प्रकट न हो पाने वाली वाणी की वेदना। इसे कोई नहीं समझ पाया था। केवल अनंत इसे समझता। पर इसका इलाज ही क्या था?

सुशीला की तबीयत बराबर बिगड़ती गई। घर में से किसी ने कहा कि 'बहू को हवा बदलने के लिए ले जाएं', पर इस बीमारी को हवाखोरी की जरूरत नहीं थी। सुशीला ने इस काम के लिए पति से पैसे नहीं खर्चाए। उसके दिल को ऐसा धक्का लग चुका था कि उस भग्नप्राय इमारत को ढहते देर न लगी। अपने प्राणों से भी प्यारे पुत्र की वेदना के कारण, उसी को छोड़कर एक दिन उसने दुनिया से अंतिम विदा लेने के लिए आंखें बंद कर लीं। समय सहज ही हिल उठा, हवा कांप गई और ज्योति सदा के लिए बुझ गई।

मृत्यु के समय उसने किरण को अपने पास लाने को कहा था। अंतिम बार उसने किरण के घुंघराले रेशमी बालों पर जब हाथ फेरा, तो उसके मन में उन क्षणों को पकड़ लेने की, जीवन में उन क्षणों को चिरस्थाई बना लेने की, कहीं छूट न जाए इसलिए अंतर के आलिंगन में जकड़ कर रखने की तीव्र इच्छा हो आई। किरण भी उन क्षणों में तल्लीन हो गया था। किंतु मृत्यु ने न फूल की पंखुड़ी जैसे सुकुमार उस बालक की कोई परवाह की, न प्रेम के अजस्र प्रवाह जैसी सुशीला की। घर में जो कुछ था उसे वैसा ही छोड़ कर, जरा-सा भी कहीं फेरफार किए बिना, मात्र जीवन के लिए छटपटाने वाले एक प्राण को हर कर मौत चलती बनी और अपने पीछे दुख की गहरी छाया छोड़ गई।

अपने स्नेही स्वभाव और व्यावहारिक दक्षता के कारण सुशीला ने सब का मन जीत लिया था इसलिए उसकी मृत्यु का सबको गहरा आघात लगा था। किंतु सबसे गहरी वेदना तो उस बालक को थी जो इतने बड़े घर में, इतने सारे लोगों के बीच निराधार और अकेला रह गया था। कौन कह सकता था कि जो घटना घटी थी, उसे वह समझ गया था या नहीं, पर अपने पैरों को घिसट घिसटकर वह उन जगहों में बार-बार जाता-आता रहता, जहां मां रसोई करती थी या पलंग पर लेटा करती थी और वेदनापूर्ण हंसी हंसता। पर उसकी हंसी का कई-कई गुणा उजला उत्तर देने वाला कोई नहीं मिलता था। पहले तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ कि जिस चेहरे को देखकर वह आनंद के सागर में डूब जाता था, वह अब कहीं दिखता क्यों नहीं? किंतु बाद में धीरे-धीरे वह उदास होता गया। पहले दो-तीन दिन तो वह 'मां-मां' की अस्फुट गुंजार करता, बाद में वह भी बंद हो गई। पहले वाली प्रसन्नता से अब उसके अंग-प्रत्यंग में प्रफुल्लता नहीं थी। मात्र पहले की तरह अब भी वह बरामदे के किनारे बैठता और पहले की बजाय अब ज्यादा देर तक चुपचाप आकाश की ओर न मालूम क्या देखा करता!

उसकी यह मनोव्यथा सभी को स्पर्श करती, किंतु उसके पास वाणी न थी इसलिए बातें करके या किसी दूसरे तरीके से उसे बहलाया नहीं जा सकता था। अनंत ने उसे खेलाने के लिए एक आया रखी थी, पर किरण उससे खुश हुआ हो, ऐसा नहीं लगा। अनंत उसके लिए टोकरी भर खिलौने ले आया, पर किरण ने उनकी तरफ देखा ही नहीं। मां के जाने के बाद जैसे किसी को पहचानता ही न हो। खेलाने के वास्ते रखी आया को उदास आंखों से देखा करता। कभी उसे देख कर सिर हिलाता और नजरें फेर लेता। लगता, जैसे वह तमाम वस्तुओं में, तमाम लोगों में मां को ही ढूंढ़ रहा हो और मां के न दिखने पर वह निराश हो जाता है।

स्वाभाविक रूप से थोड़े समय बाद अनंत के दूसरे विवाह की बात हुई। सुशीला से अनंत को बहुत प्रेम था, किंतु उसके मर जाने से वह वैरागी नहीं बन गया था। अभी तो वह बिल्कुल युवक ही था। इसलिए दूसरे विवाह की बात कतई अनुचित नहीं लगी। अनंत के मन में सिर्फ एक ही डर था, वह था किरण को लेकर। वह बालक अपने मूक जीवन में अपनी मां को इस हद तक सजीव रखे हुए था कि अनंत उसकी इस स्वप्नमयी अवस्था को, उसकी इस वेदनामयी पगलाहट को स्पर्श करते हुए हिचकता था। किरण कितना समझता है यह तो वह नहीं जानता, पर अपनी मधुर मां का स्थान किसी दूसरे व्यक्ति ने ले लिया है, यह देखकर उसके कोमल मन को जबरदस्त आघात लगेगा, यह बात वह जानता था। मन ही मन वह इस बालक को बहुत चाहता था। वह उसका बेटा

था, इससे कहीं बढ़कर वह उसे अपनी मृत पत्नी के प्रेम की शेष-स्मृति मानकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता था। किंतु उसके मूक जीवन के कारण, उसके चेहरे पर छाए अकल्पित विषाद के कारण और विशेष रूप से अपने व्यवसाय से कम समय मिलने के कारण वह उसकी तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाता था। इस बात का उसे हमेशा अफसोस रहा करता। किराए की आया पर कितना भरोसा किया जा सकता था! उसकी मां वृद्ध थी और बालक के आसपास के सौंदर्यमय वातावरण को, उसके अगम्य विषाद को स्पष्ट रूप से देखने-समझने में असमर्थ थी। वैसे उनका बच्चे पर कम स्नेह न था, फिर भी वे उसके मन के संसर्ग में नहीं आ सकती थी। उसके बूढ़े पिता कोई रुचि नहीं लेते थे। उनको यह बालक अच्छा तो लगता, पर वे तो ऐसा शरारती बच्चा चाहते थे जो तोतली मीठी बातें करे और उनकी दाढ़ी-मूंछें खींचे। इस गूंगे-अपंग बालक से सबकी सहानुभूति थी, किंतु उसके स्वभाव की विशेषता के कारण कोई उसमें सक्रिय रुचि नहीं ले सकता था। अनंत की बहन को अपने बच्चों और घर-परिवार की व्यवस्था से ही फुरसत नहीं थी। नई भाभी आए तो वह भी अपने घर वापस आने को उत्सुक थी। अनंत के दो छोटे भाई और बहन स्कूल में पढ़ते थे, जो मनमौजी थे। इस तरह इतने सारे व्यक्तियों के बीच वह बालक सबसे घिरा हुआ भी सबसे अलग रहता। उसके आसपास सुख-सुविधा व समृद्धि थी, फिर भी उसका मन एकाकी और उदास रहता।

आखिर अनंत ने सरयू के साथ विवाह करने का निश्चय किया। उसे स्वयं तो सुशीला की मृत्यु से खाली हुए स्थान को भरने के लिए जीवन-साथी की जरूरत थी ही, पर यदि बालक का भी सरयू के साथ मन लग जाए तो अच्छा रहे। इस बात को लेकर उसके मन में पूरी शंका थी, पर इसके सिवा और हो ही क्या सकता था! अगर वह विवाह न करे तो उसे स्वयं तो कुछ भी सुख नहीं मिलेगा, पर बालक को भी आज की स्थिति से बेहतर स्थिति में लाने की संभावना भी नहीं रहेगी।

सुशीला की मृत्यु के सवा बरस बाद फिर से एक बार अनंत के घर की दीवारें विवाह के मांगलिक कसूंबी रंग से रंग गई। दूसरा विवाह था इसलिए कोई खास धूमधाम नहीं थी फिर भी उत्सव और गहमागहमी का वातावरण तो था ही। कई सगे-संबंधी आ पहुंचे थे। अनंत की बूढ़ी मां लाठी के सहारे सब ओर जाती और सबको आदेश देती फिर रही थी। वृद्ध पिता के शांत चेहरे पर आनंद की रेखाएं स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। सुशीला पर दोनों का स्नेह था, इसलिए इस प्रसंग के पीछे विद्यमान घटनाओं को लेकर उनके मन में गहरा दुख था। किंतु नई बहू आकर घर को रोशन करेगी, इससे उन्हें संतोष था। बूढ़े पिता को, खास तौर से मीठी तोतली बोली बोलते, हंसते, घर में उछल-कूद मचाते पौत्र की कल्पना इतनी सुमधुर और आनंददायी लगती कि मितभाषी व घर के झंझटों से दूर रहने वाले उनके जीवन में भी इस प्रसंग को लेकर उल्लास प्रकट हो रहा था।

किरण इस सारी गहमागहमी को, अजाने वातावरण को शंका और भयभीत निगाहों से देख रहा था। यह सब क्या हो रहा है, यह तो उसकी समझ में नहीं आ रहा था, पर जो भी हो रहा था, वह उसे अच्छा नहीं लगता था। जैसे-जैसे घर में धूम-धाम बढ़ने लगी और विवाह का दिन नजदीक आने लगा, वैसे-वैसे वह अधिकाधिक एकाकी व उदास होता गया। सब लोग उसका ध्यान रखते, पर फकत उसकी शारीरिक जरूरतें पूरी करने और उसे बहलाने तक ही। उसके मन में कैसे प्रवाह चल रहे हैं, यह जानने की किसी को फुरसत न थी! अनंत कभी फुरसत में उसे पास बुलाकर बिठाता और हंसाने का मिथ्या प्रयत्न करता, उसके मन को जानने की कोशिश करता। पर गहरी दुख-भरी आंखों के सिवा किरण के पास और था ही क्या? विवाह के एक दिन पहले वह अनंत के पास आया और उसने उसकी ओर ऐसी वेदना-भरी दृष्टि से देखा कि अनंत की आंखों में आंसू छलक आए। सुशीला की मृत्यु के समय वह जितना नहीं रोया था, उससे कहीं ज्यादा वह अब रोया। बालक के दुख से वह इतना व्यथित हो उठा था कि एक बार तो उसने विवाह न करने का विचार कर लिया। पर वह जानता था कि विवाह न करने से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होगा। यही नहीं, बालक के जीवन में फिर से आनंद का उजाला फैलाने की संभावना भी विवाह न करने से समाप्त हो जाएगी।

अगले दिन जब विवाह के लिए बरात विदा हुई तब अनंत के मन में दो तरह के भाव उठ रहे थे—एक तो यह कि वह किरण के लिए अच्छा काम कर रहा है, दूसरे यह कि वह उसके प्रति द्रोह कर रहा है। पिछले दो दिनों में वह किरण की जिंदगी के बारे में सोचने में इतना निमग्न हो गया था कि वह ऐसा मानने लगा कि यह विवाह वह अपने लिए नहीं वरन् किरण के लिए कर रहा है। अब उसके सामने अगर कोई प्रश्न था तो यही कि इस विवाह से किरण को कितना सुख मिलेगा?

सरयू के आंगन में बरात आ पहुंची। उसने अनंत को एक खिड़की से लुक-छिप कर कई बार देखा था। फिर भी नवोढ़ा वाली आंखों से उसने उसे एक बार फिर देखा। उस कुमारी के हृदय में वैवाहिक-जीवन की कितनी ही स्वर्णिम कल्पनाएं उभर रही थीं। वह अपने जीवन-प्याले को प्रेम व

सौंदर्य से भर देना चाहती थी। पर उसकी तमाम सुंदर कल्पनाएं अपंग बालक की याद से मैली हो जाती थी। उसके प्रति उसके मन में सहानुभूति और करुणा थी, फिर भी विवाह के प्रथम रस-सिक्त दिनों में ऐसी जिम्मेदारी का भाव उसे चुभता रहता। बालक अपंग न होता तो शुरुआत के दिनों में उसे ननिहाल भेजा जा सकता था। थोड़े समय बाद वह उसे वापस बुला लेती। अलबत्ता वह अपने बालक और इस बालक में कतई फर्क नहीं रखेगी, पूरे स्नेह से उसकी देखभाल कर लेगी। किंतु विवाह के तत्काल बाद के दिनों के लिए उसने जो रंगीन काव्य गूंथे थे, ऐसे समय में कुछ काल के लिए ही अगर इस बालक को संभालने की गंभीर जिम्मेदारी न आई होती तो कितना अच्छा होता! इस तरह के विचार उसके मन में निरंतर उठते रहते थे। अचानक उसके मन में विचार आया कि शुरू के दिनों में वह बालक के लिए कोई नौकरानी रखने हेतु अनंत को समझा देगी। फिर अनंत की मां वगैरह तो थे ही, इसलिए बहुत चिंता नहीं करनी पड़ेगी। अनंत के सिवा उसे घर के अन्य सदस्यों से विशेष पहचान न थी, पर सबको लेकर उसने अच्छी ही कल्पना की थी और भावी जीवन की पगडंडी पर आशा के फूल बिछा रखे थे।

विवाह संपन्न हुआ। सरयू माता-पिता और भाई-बहनों से आंसूभरी विदा ले रही थी, तब व्यवहार-कुशल माता ने धीमे-से उसे कहा : 'बेटी, हो सके तो उस बच्चे को ननिहाल भेजने की व्यवस्था करा देना। अभी से स्वयं को उसकी देखभाल में मत फंसा लेना।' यों कहकर अपनी बात का आप ही समर्थन करती हुई बड़बड़ाई : 'लड़की तो खुद अभी बालक जैसी है, वह दूसरे बालक की देखभाल कैसे कर सकती है? उस पर वह ठहरा अपंग! बच्चा हैरान-परेशान हो, इससे तो अच्छा है कि बालक को ननिहाल भेज दिया जाए।' सरयू ने सिर हिलाकर सहमति प्रकट की, सबके पैर छुए, सबका आशीर्वाद पाया। दुख और आनंद के मिश्रित भावों से भरा हृदय लेकर वह गाड़ी में जा बैठी। गाड़ी रवाना हुई और कुछ देर पहले जो सरयू माता-पिता की थी, वह अब अनंत की बनकर अनजान लोगों के बीच अपनी जगह बनाने चल दी।

जब सब लोग घर पहुंचे, तब रात हो चुकी थी। नई बहू का सबने प्रेम से सत्कार किया। बूढ़े सास-ससुर ने वर-वधू को आशीर्वाद दिया। बड़ी ननद ने हंसते-हंसते कहा : 'भाभी, तुम तो साक्षात् लक्ष्मी जैसी लगती हो।' और उसने प्रेम से स्वागत-सत्कार किया। अनजाने घर में सरयू को प्रथम प्रवेश सुखकर लगा। पर तुरंत ही उसे उस सुखी वातावरण के बीच उस अपंग बालक का खयाल हो आया—पैर घिसटते, बोल न पाने के कारण मुंह से ऊं-ऊं की आवाजें निकालते, सब ओर लाचारीभरी निगाहें डालते, अपनी अपंगता और निरीहता को लंबे रोने के स्वर में बार-बार व्यक्त करते बालक की कल्पना उसे अच्छी नहीं लगी। बहुत समभाव रखते हुए भी उसे थोड़ी घिन हो आई। किसे पता, दिनभर किन-किन जगहों में खेलता होगा, बार-बार कैसा गंदा हो जाता होगा! कहीं मुझे ही मां समझकर कभी अपने गंदे, धूलभरे हाथों से लिपट गया तो!

अरुचि से उसका मन भर गया। नहीं, उसके प्रति अपना फर्ज निभाते हुए भी वह अपने सुखी-जीवन को संभाल लेगी। उसी रात उसने अनंत को बालक के लिए आया रखने को कहने की सोची। पर उसके बारे में इतना सोचने-विचारने पर भी वह कहीं दिखाई नहीं दिया। कुतूहल से उसकी आंखें चारों ओर घूम गईं। हर पल उसे लग रहा था कि वह अप्रिय दृश्य अब दिखाई देगा, पर तभी उसने सुना। अनंत पूछ रहा था : 'किरण कहां है, मां?' वह ध्यान से सुन रही थी। मां ने उत्तर दिया : 'वह तो कब का सो गया है।' सरयू को कुछ शांति मिली।

नव वैवाहिक जीवन की मंगल घड़ियों में उसे कुछ भी अप्रिय देखने की परिस्थिति सामने नहीं आई। उसका मन हलका हो गया। पर उस बालक को देखने की उत्सुकता भी उसके मन में बहुत थी। क्षणभर उसने सोचा कि वह घर में ही है और कल तो उसे देखना ही है, तब आज की रात ही देखने को मिल जाए तो क्या हर्ज है?

एकाएक उसे खयाल आया कि इस क्षण पति के बारे में सोचने के बजाय उसका सारा ध्यान बालक पर ही केंद्रित हो गया था। पति का यों अनादर करने के खयाल पर वह मन ही मन शरमायी। बहुत रात बीते स्वागत-सत्कार और मंगल-पूजा की विधि समाप्त होने पर जब वह पति के सान्निध्य में पहली बार जाकर खड़ी हुई तब पति के प्रेम में अपने आपको खो देने के लिए उसका संपूर्ण नारी-हृदय आकुल हो उठा। घड़ीभर के लिए वह किरण को भूल गई। अनंत को सरयू की दृष्टि में अपने प्रति प्रेम और विश्वास की ऐसी प्रचुरता दिखाई दी कि उसने स्वयं को धन्य माना। उसे लगा कि किरण को भी वह संभाल लेगी और उसके अपंग-असहाय जीवन को अपने मातृ-प्रेम से भर देगी। फिर तो प्रथम मिलन के सौभाग्यशाली पलों में सरयू सब कुछ भूल गई और दूसरी बातें करने के लिए वातावरण ही नहीं रहा।

अगले दिन बड़े सवेरे सरयू नीचे आई। सास के सिवा कोई जागा न था। बंद खिड़की-दरवाजे खोल कर वे अंदर के एक कमरे में आंखें मूंदे माला फेर रही थीं। सरयू क्षणभर उन्हें

देखती रही और फिर घर का पूरी तरह अवलोकन करने के लिए चारों तरफ देखने लगीं। तभी उसने देखा कि बरामदे के एक किनारे बैठा एक अत्यंत सुंदर बालक आकाश की लालिमा को तल्लीनता से देख रहा है। सगे-संबंधियों में से किसी का बच्चा होगा, यह सोचकर वह उसके पास जा खड़ी हुई। घुंघराले, लहरदार बालों के नीचे उसने श्वेत कमल-सा एक चेहरा देखा। पूरे चेहरे पर मृदुता की क्षीण बदली छाई थी और नीली आंखों में एक अजानी वेदना झलक रही थी। दोनों गालों पर दो नन्हे अश्रुबिंदु कमल की पंखुड़ी पर पड़े ओसकणों जैसे लग रहे थे। नीले रंग का एक वस्त्र उसने पहन रखा था और पांव फैलाकर वह बैठा था। उसका रूप-रंग इतना मनोरम था कि वह देवपुत्र मालूम पड़ता था, जो सामने फैली विशाल धरती पर रास्ता भटक गया हो और अपनी मां से बिछुड़ कर उसके लिए तरसता हुआ आकाश में नजरें टिकाए आंखों से आंसू की बूंदें टपका रहा हो।

सरयू के हृदय में छिपी मातृत्व की गहन वेदना छलक उठी। बालक के पास बैठकर उसने उसका मुंह स्नेह से अपनी ओर फेरा। ममताभरे कंठ से बोली : 'क्या नाम है तुम्हारा?' आकाश से नजरें हटाकर किरण सरयू की तरफ देखने लगा। मधुर मुस्कान के साथ सरयू ने कहा : 'तुम्हारा कोई नाम नहीं है क्या?' किरण कुछ नहीं बोला। चुपचाप उसे देखताभर रहा। सरयू को लगा कि शायद उसकी ननद का बेटा होगा...ऐसे प्यारे बालक की माता होने के नाते वह मन में कितना गर्व महसूस करती होगी! तब बड़ी प्रेमपूर्ण हंसी हंसते हुए बालक का मुंह अपनी छाती तक लाकर वह बोली : 'मुझसे नहीं बोलोगे क्या?' इस बार किरण हंसा...वही पहले वाली चिर-सुंदर, मधुर हंसी। इस स्त्री के प्रेम में उसे अपनी मां के सजीव दर्शन हुए। मां ही जैसे नए वेश में उसकी हंसी का उज्ज्वल प्रत्युत्तर देने वापस आ गई हो। कई महीनों बाद आज पहली बार वह फिर से उसी अस्फुट स्वर में बोला : 'मां...।' सरयू ने आश्चर्य से देखा कि वह बोल नहीं सकता था। उसके फैले हुए पैर प्राणहीन थे। विस्मय और क्षोभ से वह एक पल बेसुध-सी हो गई। जिसके लिए उसने इतनी कल्पनाएं की थीं, मन में भले-बुरे चित्र खींचे थे, वह यही बालक था! इतना सुंदर! इतना निष्कलंक! आवेग से उसने किरण को छाती से लगा लिया और प्रगाढ़ प्रेम से उसके ललाट को चूमा। उसकी आंखों से मोती जैसी दो बूंदें किरण के माथे पर लुढ़क पड़ीं। किरण ने भी प्रसन्नता से आंखें मूंद लीं। इसी समय अनंत दरवाजे पर आया और इन दोनों को प्रेम-समाधि में लीन देखकर, हर्ष से छलकती आंखों से वापस लौट गया। ❖

अनुवाद : **रामनरेश सोनी**

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एंक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटो कॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

संजीव मिश्र की कविताएं

•

संबोधन

वहां करो संबोधित
जहां मैं नहीं हूं।

अगणित नीहारिकाओं के
इस अछोर ब्रह्मांड के
अंतिम सिरे तक
हर युग में निरंतर
संभव कर दो
एक अलक्ष्य संबोधन के
छोटे से क्षण में रच कर।
एक नाम में बंधी

इस काया की पीड़ित स्मृतियों से लिपटी
कमजोर लालसाओं की गठरी
अनचाहे पड़ी
परिभाषित संबंधों के बीच कहीं
अनचाही।
बिखर जाने दो
जहां तक बिखर कर खो सके
रेशा-रेशा
न शक्ल रहे
न परछाईं
बाकी न बचे
नामो निशां कोई।

बस रहे एक संकल्प तुम्हारा
संबोधन का
तुममें ही
जैसे तुम खुद हो
अपने भीतर

फिर मैं तो नहीं रहूंगा
कहीं भी दृष्टि में
लेकिन मेरे सिवा
कुछ भी और कहां संभव होगा
समूची सृष्टि में।

•

अहं की धूल

अनुभव के दर्पण पर
इतनी जमी
अहं की धूल
कवि
कविता से बड़ा
हो गया
कविता करना भूल।

•

अंत

सिद्ध तो अंत में ही होगा,
जो भी हो
सिद्धांत, केवल मेरा
मेरे अंत में।

जब तक जिंदा हूं
कायम किस पर रहूं?

•

पतझर

हरियाली के
हजारों चेहरे हैं
पतझर की
एक ही पहचान है।

समूची पृथ्वी को लपेटे
पतझर के करोड़ों झरे सूखे
पत्तों की चरमराहट में
एक पेड़ भर
हरियाली की याद
जो खास उसी पर
खिली थी गए मौसम में।

•

याद

अंधेरे में,
दूर,
रोशनी में नहाया मंदिर।

जैसे
घोर निराशा के बीच
बचपन के किसी
देवता की याद।

•

बीतना

ठिठक कर बीच में
कुछ सोचता हूं।

यही गलती
हमेशा कर रहा हूं।

मैं लम्हा हूं
मुझे रुकना मना है

यही पहचानने में
बीतता हूं।

❖❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

संबोधन अलंकरण समारोह

गंगाशहर, बीकानेर (राजस्थान), दिनांक 30 जनवरी, 2001

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से समाज के वरिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं को उनकी जीवनगत श्रेष्ठताओं का मूल्यांकन करते हुए विशेष संबोधन से संबोधित किया जाता रहा है। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ऐसे सभी विशिष्टजनों को मर्यादा महोत्सव के अवसर पर प्रतिवर्ष इसी आधार पर अलंकरण अर्पित करती रही है। इस वर्ष भी गंगाशहर (बीकानेर, राजस्थान) में आयोजित मर्यादा महोत्सव के अवसर पर 29 जनवरी, 2001 को महासभा की ओर से 'संबोधन अलंकरण' समारोह आयोजित हो रहा है। इस समारोह में निम्नोक्त महानुभावों को सम्मानित किया जाएगा। समारोह में पधारने के लिए संबद्ध सभी विशिष्टजनों अथवा उनके निकटतम परिवारजनों से अनुरोध किया गया है, फिर भी पुनः अनुरोध है कि सभी संबद्ध महानुभाव समारोह में पधारने की कृपा करें, ताकि महासभा ससम्मान उन्हें 'संबोधन अलंकरण' अर्पित कर सके—

क्रं.सं.	नाम	स्थान	अलंकरण
1.	श्रीमती परमेश्वरीदेवी सरावगी धर्मपत्नी स्व. श्री राधाकिशनजी सरावगी	राजगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
2.	स्व. श्रीमती गुलाबदेवी सेठिया धर्मपत्नी स्व. श्री प्रेमचन्दजी सेठिया	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
3.	स्व. श्रीमती सुखीदेवी पटावरी धर्मपत्नी स्व. श्री भोजराजजी पटावरी	मोमासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
4.	स्व. श्रीमती जमनादेवी कोठारी धर्मपत्नी श्री दौलतरामजी कोठारी	जसोल	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
5.	स्व. श्रीमती भंवरीदेवी पींचा धर्मपत्नी स्व. मन्नालालजी पींचा	सरदारशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
6.	स्व. श्रीमती सोहनीदेवी पुगलिया धर्मपत्नी स्व. श्री आसकरणजी पुगलिया	श्रीडूंगरगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
7.	स्व. श्रीमती किरणदेवी सुराणा धर्मपत्नी श्री नौरतनमलजी सुराणा	चूरू	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
8.	स्व. श्रीमती सुवटीदेवी बच्छावत धर्मपत्नी श्री जयचन्दलालजी बच्छावत	चाड़वास	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
9.	स्व. श्री रंगलालजी भलावत	लाछुड़ा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
10.	स्व. श्री जयचन्दलालजी कोठारी	बीकानेर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
11.	स्व. लाला अमरचन्दजी	हाँसी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
12.	स्व. श्री मीठालालजी ओस्तवाल	बालोतरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
13.	स्व. श्री डूंगरमलजी सुराणा	चूरू	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
14.	स्व. श्री भंवरलालजी मेहता	सायरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
15.	स्व. श्री रंगलालजी कोठारी	रीछेड़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
16.	स्व. श्री सरदारमलजी लूणिया	तारानगर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
17.	स्व. श्री फूलचन्दजी मरलेचा	पूना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
18.	स्व. श्री भीमराजजी कच्छारा	रीछेड़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
19.	श्री शुभकरणजी सुराणा	अहमदाबाद	शासनसेवी
20.	श्री हस्तीमलजी पारख	जोधपुर	शासनसेवी
21.	स्व. श्री जीवराजजी बैद	राजलदेसर	शासनसेवी

शीलन

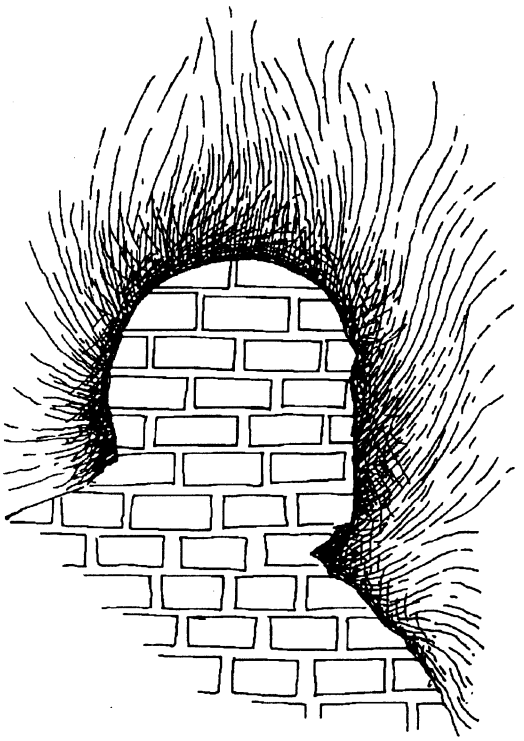

मिथ्या को मिथ्या के रूप में तथा सत्य को सत्य के रूप में देखना ही मौलिक परिवर्तन है। मौलिक परिवर्तन का यह भी अर्थ है कि जो मिथ्या है उसमें सत्य क्या है, उसे भी हम देखें और इसी प्रकार जिसे अब तक सत्य स्वीकारा गया है, उसमें जो मिथ्या है, उसको भी हम देखें।

—जे. कृष्णमूर्ति

मौके-बेमौके अनेक ऐसी छोटी-छोटी घटनाएं घट जाती हैं, जो व्यक्ति की प्रसन्नता को लील जाने के लिए पर्याप्त होती हैं। पर, परिस्थिति से प्रभावित मनःस्थिति को ही लिए चले तो क्या चले? अप्रिय प्रसंगों को इकट्ठा नहीं करना ही समझदारी है। जब-जहां, जैसी स्थिति हो, यदि उसे सुधारने की सामर्थ्य है तो एक हद तक सुधारने का प्रयास करना चाहिए और यदि नहीं, तो अनावश्यक रूप से स्थिति का अवसाद लिए क्यूं चलें?

अहं विलय : सहज जीवन का सूत्र

❑ समणी सत्यप्रज्ञा

हम बहुत आसान नहीं तो असंभव की दुनिया में भी नहीं जी रहे हैं। सुख और शांति श्रुति-मधुर शब्द हैं। प्रयास से इन्हें स्वभाव का अंग बनाया जा सकता है। जीवन हो और संघर्ष न हो—सामान्यतया ऐसा नहीं सोचा जा सकता। कहावत है—'दो व्यक्ति की तो क्या बात, दो बर्तन भी जहां एक साथ रहते हैं तो कुछ टकराहट हो ही जाती है। 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्नाः।' जितने व्यक्ति उनसे कई गुना अधिक भिन्न विचार जैसी बातें चलती रही हैं। विचार व स्वभाव की भिन्नता कई बार समुदाय में टकराहट का कारण बन जाती है। पर, थोड़े-से विवेक से विचारों को अपेक्षित मोड़ देकर सामंजस्य भी स्थापित किया जा सकता है।

बचपन से ही सहज गांभीर्य पद्मा के स्वभाव का हिस्सा बन गया था। बिना किसी प्रसंग के हंसना, मजाक करना या मस्ती में झूमते हुए 'पॉप म्यूजिक' पर हो-हू करना उसे कतई पसंद न था, पर ससुराल में आई तो उसे पूरा माहौल ही अलग मिला। खाने-पीने से लेकर बोलने-चालने के हर ढंग में शरारतभरी छीना-झपटी व चुहलबाजी चलती रहती। यह सब देख पद्मा का माथा ठनका। यह कैसा वातावरण? शांति और शालीनता से सब कार्य करने या बैठने-उठने की तो बात ही नहीं। घर का मतलब ही वे लोग समझते थे—सबको, जब जो जी चाहे, करने की स्वतंत्रता। यह कोई ऑफिस या कारखाना नहीं कि समय के साथ मशीन बन कर हर काम किया जाए। पद्मा विचारों की उधेड़बुन में परेशान, संयुक्त परिवार में किसी अलग नजर से उसे देखे—यह उसके लिए असह्य था। यह भी अच्छा नहीं कि अपने सहज विवेक और विचारों को मोड़ देदे। उसके सामने अजीब दुविधा। वह सोचती—आखिर सबका सुख-दुख ही तो अपना सुख-दुख है, पर अनपेक्षित हंसी-मजाक की किसी हरकत में तब भी उससे शरीक नहीं हुआ जाता। फिर भी अपने चेहरे पर निरंतर प्रसन्नता का भाव लिए वह सबकी प्रसन्नता में जरूर शामिल हो जाती। मुस्कान के प्रत्युत्तर में हर कोई मुस्कान ही चाहता है, पद्मा इसमें कंजूसी नहीं करती। परिणामतः अपने स्वभाव में स्थित रहते हुए भी पद्मा को कोई परेशानी नहीं रही और वातावरण में भी सामंजस्य की सुवास बनी रही।

दूसरे की सुविधा का खयाल करते हुए खुद परेशानी उठा लेना प्रतिमा का स्वभाव था। किसी की सुख-सुविधा का साधन बन जाना ही उसके आनंद का विषय रहा। उसे अपनी बीमार सास की सेवा में समर्पित रहते अतिरिक्त प्रसन्नता होती थी। प्रतिमा की जिठानी भी सास की सार-संभाल व परिचर्या के प्रति जागरूक थी। पर, सेवा में आत्मीयता या संवेदना का कोई भाव प्रतिमा को जिठानी की आंखों में दिखाई नहीं देता। यहां तक तो उसे कोई विशेष शिकायत नहीं थी, शिकायत की जरूरत भी नहीं थी। पर एक दिन अचानक उसने जो देखा तो उसे बड़ी ग्लानि महसूस हुई अपनी जिठानी पर। वह सास को दवा के साथ रात का बासी दूध दे रही है और वह स्वयं व अपने बच्चों के लिए सुबह का ताजा दूध प्रयुक्त कर रही है। उसके भीतर कोई शीशा जैसे अचानक चटक-सा गया। स्वयं के स्वास्थ्य के प्रति इतनी चिंता कि कहीं कोई आंच न आ जाए और दूसरों के प्रति इतनी बेपरवाही व संवेदनहीनता! प्रतिमा के मन में इस घटना के बाद संदेह के बीज भीतर ही भीतर पनपने लगे। अविश्वास का विष-वृक्ष फैलता गया।

सामान्य सहजता में यदि ऐसा व्यवहार होता तो शायद प्रतिमा को ग्लानि नहीं होती, पर इसके पीछे जो भावना काम कर रही थी, तिलमिलाहट उसी से थी। उसे लगा कि ऐसी

बातों का विरोध या शिकायत करने का मतलब होगा विद्रोह करना या कलह को जन्म देना, जो कि प्रतिमा को किसी भी कीमत पर स्वीकार न था। परंतु नहीं चाहते हुए भी अविश्वास का शल्य उसकी स्मृति में उभरता रहता। वह जानती थी—रास्ते चलते यदि कहीं कांटा चुभ जाए तो क्षण भर ठहर कर कांटा निकालो और फिर आगे कदम बढ़ाओ। पैर में कांटा रहेगा तो राह के फूलों का भी सुख नहीं ले पाएंगे। पर, जितना भी वह उस प्रसंग को भूलने का प्रयास करती, उतना ही वह प्रसंग उसकी स्मृति में गहराता। हंसी-खुशी के किसी भी प्रसंग में संवेदनहीनता का वह प्रसंग सामने आ जाता और एक मौन उपेक्षा चेहरे पर छा जाती। अपने ऐसे असामयिक मौन की परिणति को वह स्वयं भी समझती थी। पर, क्या किया जाए—वह समझ नहीं पा रही थी। सदा साथ भी रहना और अविश्वास भी पाले रखना—दोनों एक साथ कैसे चल सकते थे?

अचानक, एक सुबह बिजली की कौंध सदृश एक विचार उसके दिमाग में उभरा—विश्वास को विश्वास बनाए रखने व निभाने के लिए कई बार सचाइयों को नजरंदाज कर देना या उन पर अविश्वास कर लेना भी हितकर व जरूरी हो जाता है। जीवन की प्रसन्नता के लिए कई प्रसंगों की विस्मृति अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य भी बन जाती है। स्मृतियों का बोझ एक साथ लादे हुए आखिर व्यक्ति कब तक चले? फिर परेशानियों का बोझ लादे ही क्यूं?

इस तरह मन् ही मन अनावश्यक व्यथित होने से क्या लाभ? विचारों की इस शृंखला के चलते-चलते प्रतिमा के सिर से अब वह बोझ उतरने लगा। उसे सहज जीने का सूत्र मिल गया था।

मौके-बेमौके अनेक ऐसी छोटी-छोटी घटनाएं घट जाती हैं, जो व्यक्ति की प्रसन्नता को लील जाने के लिए पर्याप्त होती हैं। पर, परिस्थिति से प्रभावित मनःस्थिति को ही लिए चले तो क्या चले? अप्रिय प्रसंगों को इकट्ठा नहीं करना ही समझदारी है। जब-जहां, जैसी स्थिति हो, यदि उसे सुधारने की सामर्थ्य है तो एक हद तक सुधारने का प्रयास करना चाहिए और यदि नहीं, तो अनावश्यक रूप से स्थिति का अवसाद लिए क्यूं चलें? दुनिया केवल दुख भोगने के लिए ही नहीं, सुख से जीने के लिए बहुतेरे अवसर हैं—उन्हें हासिल करना चाहिए।

विश्वास के सागर में खड़ा समाज रूपी जहाज संवेदना के धागों से जुड़ कर ही निरंतर गतिशील रह सकता है। यदि समाज के साथ सहज संवेदना का संबंध न जोड़ सकें तो तटस्थ उदासीनता रख कर कभी किसी का भला नहीं हो सकता।

केवल अतीत की ही अच्छाइयों के आधार पर किसी का वर्तमान गौरवशाली नहीं बन जाता। अतीत से नाम तो जान लेंगे, लेकिन सही पहचान तो वर्तमान ही देगा। यदि अतीत की अच्छाइयों का व्यक्ति प्रतिदान मांगने लगे, तो वे अच्छाइयां भी विद्रूप लगने लगती हैं।

हर व्यक्ति का अहं उसे विशिष्ट माने जाने की मांग करता है। पर यह दुनिया पहले भी चलती थी और अच्छी तरह चलती थी। किसी व्यक्ति के न रहने से अनर्थ या विनाश की घंटी बजने लगे—ऐसा कभी नहीं होता है। अपने-अपने ढंग से इस सृष्टि को सभी गति देते ही हैं। आरोह-अवरोह प्रकृति का नियम है। तब दुनिया की चिंता का भार ढोकर व्यक्ति क्या कर लेगा? व्यक्ति भी तो आखिर उतना ही चल पाएगा—जितने श्वास हैं। लेकिन संसार-सृष्टि को तो फिर भी चलना है। फिर क्यूं नहीं ऐसा उपक्रम किया जाए कि प्रत्येक श्वास स्वयं की प्रसन्नता व दूसरों के सुख का हेतु बन सके? निश्चय ही श्वास व शरीर एक दिन कफन में सिमट कर रह जाएंगे, पर सुख व प्रसन्नता का जीवन अमर हो जाएगा। बेशक अहं विलय के बाद ही जीवन सुख का निलय बन सकता है। ❖

अंतःशुद्धि न दृष्टि से, न श्रुति से और न ज्ञान से ही प्राप्त होती है। शीलव्रत पुरुष भी आध्यात्मिक शुद्धि नहीं दिला सकता; पर इतने से यह न समझना कि ये निरर्थक हैं और इनका त्याग करने से शुद्धि प्राप्त होती है। जब तक सम, विशेष और हीन का भाव बना रहेगा, तब तक शुद्धि दुर्लभ है।

—वियोगी हरि
'बुद्धवाणी' से

और वे मानसिक उत्तेजना में कहते ही गए, 'लोग मेरी स्मृति में मेरे नाम के पीछे सदियों से चली आई प्रथाओं को मना रहे हैं और मैं हूं कि एक अजनबी बना हूं। मैं पूर्व से पश्चिम तक इस पृथ्वी पर घूमता फिरा हूं; किंतु मुझे किसी ने नहीं पहचाना। लोमड़ी का भी अपना बिल होता है और आकाश की चिड़िया का भी अपना घोंसला, किंतु महामानव की संतान को अपने मस्तिष्क को विश्राम देने के लिए कहीं भी स्थान नहीं है।'

उत्सव

❑ खलील जिब्रान

रात हो चुकी थी और अंधेरे ने सारे नगर को मानो निगल लिया था; पर महलों, झोंपड़ियों और दूकानों में रोशनियां जगमगा रही थीं। हजारों लोग सुंदर-सुंदर पोशाकें पहने सड़कों पर जमघट लगाए हुए थे। सभी के चेहरों पर प्रसन्नता और संतोष की झलक दिखती थी। भीड़ और कोलाहल को त्यागकर एक ओर को मैं अकेला घूमने लगा और उस महामानव का स्मरण करने लगा, जिसकी महत्ता में वे उत्सव मना रहे थे। उस देवात्मा का ध्यान करने लगा, जिसने एक निर्धन घर में जन्म लेकर धर्ममय जीवन व्यतीत किया और संसार की भलाई में अपनी बलि दी!

मैं उस जलती हुई मशाल के ध्यान में रत था, जिसे छोटे-से गांव में उस 'पुण्यात्मा' ने जलाया था— उस पुण्यात्मा ने, जो हर काल, हर समय में मंडराती रहती है और एक के बाद दूसरी सभ्यता में से गुजरती है और उसे अपनी सत्यता से प्रभावित करती रहती है।

ज्योंही मैं सार्वजनिक उद्यान में पहुंचा और जंग खाई हुई एक बेंच पर बैठकर नंगे पेड़ों के उस पार भीड़-भरी सड़कों की ओर देखने लगा तो खुशी के गीत और राग सुनाई पड़ने लगे।

एक घंटे की गहरी चिंता के बाद मैंने अपनी बगल में झांका तो वहां एक मनुष्य को बैठा पाकर बड़ा ही विस्मित हुआ। वह हाथ में तिनका लिए पृथ्वी पर अस्पष्ट-से चित्र अंकित कर रहा था। मैं डर-सा गया, क्योंकि मैंने उसे आते हुए नहीं देखा था और न उसके आने की आहट ही सुनी थी; परंतु तभी मैंने अपने मन में कहा, 'यह भी कोई, मेरी तरह ही, एकांतवासी है।' भली-भांति देखने के उपरांत मुझे ज्ञात हुआ कि लंबे बाल और पुरानी वेश-भूषा में होने पर भी वह एक योग्य, प्रतिभाशाली मनुष्य है।

ऐसा जान पड़ा कि उसने मेरे हृदय के विचार ताड़ लिए, क्योंकि एक गहरे एवं शांत स्वर में उसने कहा, 'आशीर्वाद, मेरे बेटे!'

'नमस्कार !' श्रद्धापूर्वक मैंने उत्तर दिया और तब वह फिर से अपने चित्रों में तल्लीन हो गया; किंतु उसके स्वर की मीठी और अद्‌भुत आवाज तब भी मेरे कानों में गूंज रही थी।

मैंने उससे पूछा, 'क्या आप इस नगर में एक अजनबी हैं?'

'हां! प्रत्येक नगर में मैं एक अजनबी हूं।'

सांत्वना के स्वर में मैंने कहा, 'खुशी के इन दिनों में एक परदेसी को यह भुला देना चाहिए कि वह कहीं बाहर का है, क्योंकि आजकल सभी लोग सहानुभूति और दयालुता से परिपूर्ण रहते हैं।'

उसने क्षीण स्वर में उत्तर दिया, 'मैं इन दिनों में और दिनों से अधिक अजनबी हो जाता हूं।'

इतना कहकर वह निर्मल आकाश की ओर देखने लगा। उसके नेत्र सितारों को घूरने लगे और उसके होंठ कांपने लगे, मानो सितारों की उस दुनिया में उसे कोई दूर देश की छाया दिखाई पड़ रही हो।

उसके अनोखे उत्तर ने मेरी उत्सुकता को और बढ़ा दिया। मैंने कहा, 'यह वर्ष का वह समय है, जब मनुष्य दूसरों पर दयालु होते हैं, धनी निर्धन का ध्यान रखते और बलवान दुर्बल के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं।'

उसने उत्तर दिया, 'हां, धनी की निर्धन पर यह क्षणिक दया बड़ी ही तीखी होती है और बलवान की निर्बल के प्रति यह सहानुभूति कुछ नहीं, केवल उच्चता की स्मृति मात्र है।'

मैंने निश्चयपूर्वक कहा, 'आप ठीक कहते हैं, किंतु बलहीन निर्धन यह कभी जानने की चेष्टा नहीं करता कि धनी के हृदय में कैसी भावनाएं हैं और भूखा यह कभी नहीं सोचता कि रोटी का वह टुकड़ा, जिसकी लालसा उसके मन में लगी हुई है, किस प्रकार गूंथकर पकाया गया है।'

तब उसने उत्तर दिया, 'जो सहानुभूति या दान पाता है वह तो मूर्ख है ही, किंतु जो देने वाला है, उस पर यह दायित्व है कि भ्रातृप्रेम और मित्रता की भावना से दे, अपने बड़प्पन को जताकर नहीं।'

मैं उसकी बुद्धिमत्ता से चकित रह गया और एक बार फिर उसके पुराने रूप और विचित्र पहनावे को ध्यान से देखने लगा। तब सोच-समझकर मैंने कहा, 'ऐसा ज्ञात होता है कि आपको सहायता की आवश्यकता है। क्या आप मेरे कुछ सिक्के स्वीकार करेंगे?'

एक व्यथित मुस्कान के साथ उसने उत्तर दिया, 'हां मुझे सहायता की बड़ी जरूरत है, किंतु सोने और चांदी की नहीं।'

हैरान होकर मैंने पूछा, 'तब आपको किस वस्तु की आवश्यकता है?'

'मुझे स्थान चाहिए, जहां मैं अपने मस्तिष्क और अपने विचारों को विश्राम दे सकूं।'

'कृपा करके यह दो दीनार स्वीकार कर किसी सराय में ठहरने का प्रबंध कर लीजिए।' मैंने आग्रह किया।

उसने दुखित स्वर में कहा, 'मैं हर सराय में गया हूं, मैंने हरएक का दरवाजा खटखटाया; किंतु व्यर्थ! मैं हर भोजनालय में गया; किंतु किसी ने मेरी सहायता नहीं की। मैं पीड़ित हूं, भूखा नहीं; मैं निराश हूं, थका हुआ नहीं। मुझे सिर छिपाने का नहीं, मनुष्यता का आश्रय चाहिए।'

मैंने मन-ही-मन सोचा, 'कैसा आदमी है, कभी दार्शनिक की तरह बातें करता है तो कभी पागल की तरह!'

जैसे ही मैं ये शब्द अपनी आत्मा की गहराइयों में गुनगुना रहा था, वह मेरी ओर घूरने लगा और कंठ को कुछ धीमा कर क्षुब्ध स्वर में बोला, 'हां! मैं पागल हूं; परंतु एक पागल भी अपने को बिना आश्रय के एक अजनबी और बिना अन्न के एक भूखा ही समझेगा, क्योंकि मनुष्य का हृदय तो एक शून्य मात्र है।'

मैंने क्षमा मांगते हुए कहा, 'मुझे अपनी मूर्खता पर दुख है। क्या आप मेरा आतिथ्य स्वीकार कर मेरे घर विश्राम करेंगे?'

'मैंने तुम्हारा ही नहीं, प्रत्येक का द्वार खटखटाया है, किंतु कोई उत्तर न मिला।' उसने तीखे स्वर में कहा।

अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि वह वास्तव में पागल है। मैंने अनुरोधपूर्वक कहा, 'चलो, अब घर चलें।'

अपने सिर को धीरे-से ऊपर उठाते हुए उसने कहा, 'यदि तुम मुझे पहचानते होते तो कभी अपने घर चलने को निमंत्रित न करते।'

'आप कौन हैं?' मैंने डरते-डरते धीमे स्वर में पूछा।

सागर की गर्जन के समान तीखी चिंघाड़ती हुई आवाज में उसने कहा, 'मै वह क्रांति हूं, जो उसका निर्माण करती है, जिसे राष्ट्र नष्ट कर देते हैं। मैं वह आंधी हूं, जो सदियों से जमाए हुए पेड़ों की जड़ों को उखाड़ फेंकती है। मैं वह प्राणी हूं, जो इस संसार में शांति नहीं, युद्ध फैलाने आता है, क्योंकि मानव-हृदय दुखों से ही संतुष्ट होता है।'

और कपोलों के नीचे अश्रु-धारा बहाता हुआ वह खड़ा हो गया। एक धीमे प्रकाश की ज्योति उसके चारों

ओर फैल गई और उसने अपने हाथ आगे फैला दिए। तब मैंने देखा कि उसकी हथेलियों पर कीलों के चिह्न थे। मैं उसके चरणों में गिड़गिड़ा कर गिर पड़ा और चीख-चीख कर पुकारने लगा।

और वे मानसिक उत्तेजना में कहते ही गए, 'लोग मेरी स्मृति में मेरे नाम के पीछे सदियों से चली आई प्रथाओं को मना रहे हैं और मैं हूं कि एक अजनबी बना हूं। मैं पूर्व से पश्चिम तक इस पृथ्वी पर घूमता फिरा हूं; किंतु मुझे किसी ने नहीं पहचाना। लोमड़ी का भी अपना बिल होता है और आकाश की चिड़िया का भी अपना घोंसला, किंतु महामानव की संतान को अपने मस्तिष्क को विश्राम देने के लिए कहीं भी स्थान नहीं है।'

उसी क्षण मैंने अपनी आंखें खोलीं, गरदन ऊपर उठाई और अपने चारों ओर देखा; किंतु वहां धुएं के अतिरिक्त कुछ भी न पाया और मुझे केवल रात्रि के अंधकार की खामोशी में क्षितिज के पार की गहराइयों में से आती हुई एक कांपती आवाज सुनाई पड़ी।

अपने आपको एक बार फिर संभाल कर मैं दूर गाते हुए जमघटों को देखने लगा। तब मेरे अंतःकरण ने कहा, 'वही शक्ति जो हृदय को दुख से बचाती है, उसे अपनी आकांक्षाओं की इच्छित सीमा तक फैलने से भी रोकती है। स्वर का गीत मीठा है सही, किंतु हृदय का गीत ही तो सच्ची आवाज है।'

❖

'सत्यमेव जयते'—इस मंत्र भाग को स्वतंत्र भारत ने राष्ट्रीय सूत्र-वाक्य के रूप में स्वीकार किया है, परंतु वैदिक ऋषियों ने 'सत्य' को अत्यंत व्यापक और प्रापक अर्थ में स्वीकार किया था। यह केवल भौतिक जीवन तक सीमित नहीं है। इसका आध्यात्मिक महत्त्व भौतिक और बौद्धिक आवश्यकताओं को भी अपने आप समेट लेता है।

'मुंडक उपनिषद्' इस बात को विस्तार से समझाते हुए सार्वजनिक और सार्वकालिक सत्य की महिमा सांकेतिक भाषा में प्रतिपादित करता है। मंत्र का पूरा पाठ है :

'सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पंथा विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषमयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमंनिधानम्।।

यहां पर सत्यस्य परमम्, निधानम् (सत्य का सर्वश्रेष्ठ धाम) पहुंचने का एक मार्ग बताया गया है, जिसको देवयान कहा गया है। देवताओं ने इस मार्ग को रूपायित किया है। भवबाधा से मुक्त होकर अपने भीतर की दिव्यता का साक्षात्कार करने के लिए यह देवयान बनाया गया है, जिसका आरंभ सत्य से होता है। अपने मन में सत्य को प्रतिष्ठित करें, उसमें ऋत-हो, अनृत (अधर्म, अन्याय, अक्रम, अविनय) का एकदम लोप हो तब मन निर्मल बन जाता है। इस मनोदशा में पहुंचने के बाद काम अकाम बन जाता है, अभाव सद्भाव बन जाता है और सरलता संपन्नता बन जाती है। यही समर्पित जीवन सत्य को अपना सकता है और धर्म का पालन कर सकता है। तभी राष्ट्र समृद्ध होगा।

—पांडुरंग राव

आचार्यश्री तुलसी स्मारक लोकार्पण व दीक्षा दिवस

बाहर का नहीं, अंदर का सौंदर्य बढ़े

❑ प्रस्तुतकर्ता—भवानी सोलंकी

'आचार्य तुलसी का आंतरिक व्यक्तित्व एक सौंदर्य के रूप में प्रकट हुआ है, पर बाहर का नहीं, भीतर का सौंदर्य कैसे बढ़े—यह देखना है।' ये शब्द हैं देश के लब्ध प्रतिष्ठित दार्शनिक संत आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के, जो 14 दिसंबर (गुरुवार), 2000 को निर्विशेष अध्यात्म योगी गणाधिपति तुलसी के स्मारक के लोकार्पण के अवसर पर उन्होंने कहे। 40-45 वर्ष पूर्व अजंता पर रची अपनी एक कविता का स्मरण करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इन पंक्तियों को भी उद्धृत किया—

बाहर का सौंदर्य यहां तो, अंतर का प्रतिबिंब रहा है
बाहर ही बस शेष रहा तो, मिट जाएगी असली शोभा

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के उपरोक्त कथन में जहां आचार्य तुलसी की भव्य समाधि का सौंदर्य दृश्यायित होता है वहीं उनका यह मंतव्य समाज के लिए अधिक विचारणीय है कि इस समाधि का मूल अभीष्ट मात्र बाहर के सौंदर्य से अभिभूत न होकर आंतरिक सौंदर्य को प्रकट करने में है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी यहीं यह संकेत भी करते हैं कि नैतिकता, संयम और अहिंसा के क्षेत्र में दैनंदिन जीवन में होने वाले प्रयोगों से ही आंतरिक सौंदर्य प्रस्फुटित हो सकता है। इसीलिए वे आचार्यश्री तुलसी के इस समाधि स्थल को 'नैतिकता की शक्ति पीठ' के रूप में रूपायित करते हैं और यह अपेक्षा भी करते हैं कि पूरे राष्ट्र की नैतिकता के विकास का यहां से मार्ग प्रशस्त होगा।

14 और 15 दिसंबर, 2000 के रोज गंगाशहर (बीकानेर) में संपन्न आयोजन इस रूप में 'मील के पत्थर' सिद्ध हुए कि इन समारोहों में उपस्थित सभी प्रमुखजनों ने आचार्यश्री तुलसी के बहुआयामी व्यक्तित्व, बहुविध कृतित्व और संप्रदायातीत व्यवहार का जहां एक स्वर से स्मरण किया, वहीं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आह्वान किया कि सामुदायिक चेतना का विकास ही आचार्यश्री तुलसी के प्रति सही अर्थों में श्रद्धांजलि होगी। उन्होंने कहा कि वैयक्तिक स्वार्थ की चेतना बदल जाए और सामुदायिक चेतना का विकास होने लगे तो भारत की अनेक समस्याओं का समाधान स्वतः निकल आएगा। इसीलिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उपस्थित जनसमूह को सामुदायिक चेतना की दीक्षा के लिए अभिप्रेरित किया। दीक्षा का यह प्रसंग 15 दिसंबर, 2000 के रोज इसलिए उभरा कि 75 वर्ष पूर्व पौष कृष्णा पंचमी संवत 1982 (5 दिसंबर, 1925) को 11 वर्ष के बालक तुलसी ने अपना घर-परिवार छोड़कर जैन साधु के रूप में दीक्षा ग्रहण की थी।

यह सहज संयोगभर कहा जा सकता है कि तेरह दिसंबर को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का गंगाशहर प्रवेश, 14 दिसंबर को आचार्यश्री तुलसी समाधि स्थल पर आगमन और 15 दिसंबर को आचार्यश्री तुलसी के दीक्षामृत का रसपान—यह सब जैसे त्रिवेणी संगम बन गया और हजारों जन जैसे इस संगम में डुबकी लगाकर रस विभोर हो उठे हों।

14 दिसंबर के आयोजन में प्रदेश के स्वायत्त शासन मंत्री श्री शांति धारीवाल, पूर्व वित्तमंत्री (वर्तमान विधायक, लूनकरणसर) श्री मानिकचन्द सुराणा, भारतीय पुलिस सेवा के वरिष्ठ अधिकारी श्री अरुण दूगड़, युनिवर्सिटी ऑफ लंदन में जैन दर्शन के प्राध्यापक डॉ. पीटर फ्लुकेल, मीडियाकर्मी श्री महेन्द्र नाहटा, सरदार पटेल मेडिकल कॉलेज के प्राचार्य डॉ. डी.पी. पूनिया, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय से संबद्ध डॉ. शांता जैन, अखिल भारतीय तेरापंथ महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा, भगवान महावीर छब्बीसवीं जन्म शताब्दी राष्ट्रीय समिति के उपाध्यक्ष श्री मांगीलाल सेठिया, आचार्य विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी के युवा शिष्य श्री राजेन्द्र मुनि आदि ने आचार्यश्री तुलसी के प्रति अपने श्रद्धा भाव प्रकट किए और उनके व्यक्तित्व-कृतित्व पर अपना

मंतव्य रखा। स्वायत्त शासन मंत्री ने इस मौके पर घोषणा की कि प्रदेश के सभी छह संभाग मुख्यालयों पर **'आचार्य तुलसी सर्किल'** स्थापित किए जाएंगे। इससे पूर्व आचार्य तुलसी शांति प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री मूलचंद बोथरा ने सभी जनों का स्वागत किया और समाज से अपील की कि वे विसर्जन के लिए आगे आएं।

समारोह का शुभारंभ युवाचार्यश्री के णमोकार महामंत्र से हुआ। समणीगण ने मंगलाचरण किया, वहीं महिला मंडल, कन्या मंडल ने स्वागत गान प्रस्तुत किया। प्रतिष्ठान के मंत्री श्री सोहनलाल बैद ने प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। श्री टीकमचन्द सेठिया ने मुख्यमंत्री अशोक गहलोत के अवसर विशेष पर प्राप्त पत्र का वाचन किया। प्रवास व्यवस्था समिति के महामंत्री श्री लूणकरण छाजेड़ ने इस कार्य से जुड़े सभी जनों को बधाई दी।

इस अवसर पर साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व और कृतित्व को याद करते हुए आशा प्रकट की कि यह समाधि व्यक्ति को जागृत रहने और आत्मचिंतन करने की प्रेरणा देती रहेगी।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपनी भावाभिव्यक्ति के साथ इस ओर सचेत किया कि शांतिविहीन शक्ति विध्वंसकारी हो सकती है। अतः शक्ति और शांति के संगम, इस स्थल से समन्वय की प्रेरणा मिलती रहे और कामनाओं का परिष्कार भी होता रहे।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने समाज में नैतिकता और संयम की महती आवश्यकता को रेखांकित करते हुए इस समाधि स्थल को नैतिकता व संयम का शक्तिपीठ माना। उन्होंने कहा कि शक्ति के बहुत से पीठ गिनाए जा सकते हैं, लेकिन यह समाधिस्थल नैतिकता और संयम का शक्तिपीठ है। इसी को लक्ष्य कर अपने स्वरचित गीत का सस्वर गान भी उन्होंने किया और समूचा जन समूह इस गान में सहभागी बना।

प्रतिष्ठान के उपाध्यक्ष श्री सुमेरमल दफ्तरी ने सभी के प्रति आभार प्रकट किया।

इस अवसर पर अखिल भारतीय तेरापंथी महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा ने आचार्य तुलसी शांति प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री मूलचन्द बोथरा को उनके अवदानों के सम्मान स्वरूप उत्तरीय अर्पित कर कृतज्ञता प्रकट की। शांति प्रतिष्ठान के पदाधिकारियों व कार्मिकों को स्मृति-चिह्न भेंट कर उनका भी सम्मान किया गया। इस अवसर पर उपस्थित प्रमुखजनों को भी स्मृति-चिह्न भेंट किए गए।

दीक्षामृत रसपान

15 दिसंबर को आचार्यश्री तुलसी दीक्षा महोत्सव संपन्न हुआ। उपस्थित जनसमूह के साथ इस महोत्सव के साक्षी बने श्री भैरोंसिंह शेखावत व श्री ललितकिशोर चतुर्वेदी। प्रदेश के इस वयोवृद्ध नेता व पूर्व मुख्यमंत्री श्री शेखावत ने अणुव्रत आंदोलन के प्रारंभ के काल को याद करते हुए आचार्यश्री तुलसी के महाप्रयाण के दृश्य का भी स्मरण किया। उन्होंने समाधिस्थल की भव्यता को आध्यात्मिक-भावात्मक स्फुरणा का उत्प्रेरक केंद्र मानते हुए कहा कि जिस सत्य, अपरिग्रह और अहिंसा के लिए आचार्यश्री तुलसी जीवन पर्यंत सक्रिय रहे, अब इस समाधि से समाज को इनकी प्रेरणा मिलती रहेगी और समूचे विश्व में नैतिकता की दृष्टि से भारत की पहचान स्थापित होगी।

श्री ललितकिशोर चतुर्वेदी ने आचार्यश्री तुलसी के जीवन के विभिन्न पहलुओं को याद करते हुए आध्यात्मिकता, नैतिकता, त्याग व संयम की दृष्टि से समाज को राह दिखाने में उनकी प्रतिबद्धता का स्मरण किया। श्री चतुर्वेदी ने सामाजिक स्तर पर अंत्योदय और अपरिग्रह के सिद्धांत पर चलकर दीन-हीन की सेवा करने की समाज से अपील की।

प्रारंभ में श्रीमती रेणु बाफना ने इस भूमि पर आचार्यश्री तुलसी की समाधि के निर्माण को अपने परिवार का अहोभाग्य बताया।

दीक्षा दिवस के इस अवसर पर साध्वी समुदाय, साधु समुदाय व युवजनों ने युगल रूप से सस्वर गीत प्रस्तुत किए। मुनि मुनिव्रतजी व मुनि सुखलालजी ने भी अपने-अपने गीतों का एकल गान किया। शासन गौरव मुनि मधुकरजी ने भी अपनी भावाभिव्यक्ति कविता के माध्यम से प्रस्तुत की।

इसी अवसर पर मुनि धनंजयकुमारजी ने भगवई भाष्य (खंड दो) व उत्तरज्झंयणाणि के नवप्रकाशित दो ग्रंथों के बारे में जन-समुदाय को जानकारी दी और गणाधिपति गुरुदेव तुलसी की प्रेरणा से आगम संपादन के हो रहे महत्त्वपूर्ण कार्य पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि आगम के अध्ययन में अब लोगों की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ रही है। मुनि धनंजयकुमारजी ने दोनों नवप्रकाशित ग्रंथों की प्रतियां युवाचार्यश्री महाश्रमणजी को सुपुर्द कीं जिन्हें उन्होंने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के कर-कमलों में अर्पित कर दीं। ये ग्रंथ श्री शेखावत व श्री ललितकिशोरजी को भी भेंट किए गए।

इस अवसर पर प्रवास व्यवस्था समिति के श्री टोडरमल लालाणी ने आचार्यश्री तुलसी के समाधि स्थल पर अगले सौ सालों बाद आए एक पर्यटक की कल्पना करते हुए उसके मन में उठ रहे भावों को एक रोचक रूपक के रूप में प्रस्तुत किया। श्री लालाणी ने अपने इसी रोचक रूपक में अणुव्रत, अपरिग्रह, अहिंसा आदि गणाधिपति तुलसी के अवदानों का भी रोचक रूप में स्मरण किया।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने आचार्यश्री तुलसी की श्रमशीलता, उनकी कोमलता व कठोरता और संयम के प्रशिक्षण की उनकी विधि पर प्रकाश डालते हुए कहा कि जिस नैतिकता, आध्यात्मिकता और उपासना की धर्म के क्षेत्र में चर्चा की जाती है उसमें से उपासना को तो लोग पकड़ लेते हैं, पर नैतिकता के बारे में स्थिति सपाट बनी रहती है। आचार्यश्री तुलसी ने इसी सपाट स्थिति को बदलने के उपक्रम के रूप में अणुव्रत के माध्यम से त्याग और संयम का मार्ग दिखाया। उन्होंने आचार्यश्री तुलसी के इस दीक्षा दिवस को त्याग और संयम का प्रतीक दिन बताया और कहा कि सुविधावाद की वृत्ति से मुक्त होकर श्रमशीलता और त्याग के प्रति इस दिन से हमें प्रेरणा मिलती रहेगी।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने आचार्यश्री तुलसी को विलक्षणता की प्रतिमूर्ति बताते हुए कहा कि उनके नाम से ही ऊर्जा का संचार होता है। उन्होंने कहा कि गुरुदेव लोगों के मनों में प्रश्न जगाते रहे, प्रश्नों के उत्तर देते रहे। उन्हें देखने के नजरिए अपने-अपने रहे, लेकिन जहां श्रद्धा और आस्था होती है वहां असंभव संभव बन जाता है। उनके पुरुषार्थ और परिश्रम ने सदैव असंभव को संभव कर दिखलाया।

इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि आचार्यश्री तुलसी के प्रारंभ बिंदु को पकड़ना अत्यंत कठिन है, लेकिन उनकी दीक्षा के अनेक फल समाज को चखने को मिले और आज भी मिल रहे हैं। उन्होंने दीक्षा दिवस की सार्थकता के लिए उपस्थित जन-समुदाय का आह्वान किया कि वे सभी सामुदायिक चेतना के जागरण की दीक्षा को स्वीकार करें। दीक्षा को भारतीय संस्कृति का सर्वोत्तम अवदान बताते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि दीक्षा के अनेक प्रकार हैं, हर व्यक्ति को दीक्षित होना चाहिए, दीक्षा कभी समाप्त नहीं होती, समय के साथ-साथ नए-नए फलक खुलते रहते हैं। अतः सामुदायिक चेतना के जागरण की दीक्षा से अगली शताब्दी अध्यात्म की शताब्दी के रूप में प्रतिष्ठापित हो सकेगी, और हमें आशा करनी चाहिए कि तब देश की अनेक समस्याएं भी समाप्त हो सकेंगी।

उन्होंने कहा—सामुदायिक चेतना से ही विसर्जन और अपरिग्रह के सूत्र पर चलने का मार्ग प्रशस्त होगा। यदि यह हो जाएगा तो आचार्यश्री तुलसी का दीक्षा दिवस मनाने का यह अभिक्रम सार्थक माना जाएगा।

इस मौके पर पारमार्थिक शिक्षण संस्था के अध्यक्ष श्री खेमचन्द सेठिया ने अवसर विशेष की महत्ता को चिरस्थाई बनाने के उद्देश्य से मुमुक्षु युवक-युवतियों में से कुछ जनों को आने वाले दिनों में साधु दीक्षा देने की आचार्यश्री महाप्रज्ञजी से प्रार्थना की। इसी प्रार्थना को युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने आगे बढ़ाया और अनुरोध किया कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के दीक्षा दिवस के रोज (माघ शुक्ला 15, 3 फरवरी, 2001) आचार्य प्रवर कुछ दीक्षाएं प्रदान करें।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तत्क्षण इसकी स्वीकृति दे दी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने घोषणा की कि गंगाशहर की चार बहिनों व हरियाणा की दो बहिनों को साधु दीक्षा दी जाएगी। दीक्षार्थियों की संख्या में वृद्धि की भी आशा की जाती है। दो मुमुक्षु युवजनों की दीक्षा की घोषणा पूर्व में ही हो चुकी है।

15 दिसंबर का यह समारोह श्री दुलीचन्द चौपड़ा के आभार ज्ञापन के साथ संपन्न हुआ।

ज्ञातव्य है कि आचार्यश्री तुलसी के समाधि स्थल का यह परिसर 2,30,000 वर्गफुट में फैला हुआ है। मुख्य समाधि 30,000 वर्गफुट में निर्मित है। श्वेत धवल संगमरमर से बने मुख्य स्मारक को अध्यात्म और नैतिकता की उत्प्रेरणा की परिकल्पना के आधार पर साकार किया गया है। इसी के साथ दो मंजिलों में छह प्रसाल बनाए गए हैं जो समाधि की ओर अभिमुख होकर ध्यान-आराधना के लिए उपयुक्त स्थल हैं। समूचे परिसर में नौ कक्ष बने हैं जिनमें प्रशासनिक कार्यालय के साथ-साथ पुस्तकालय, संग्रहालय व सूचना केंद्र संचालित होंगे। वृद्ध और अशक्त जनों के लिए एक ढालू पथ भी बना है जिससे पहिए वाली कुर्सी का उपयोग कर ऐसे जनों को समाधि स्थल तक ले जाया जा सके। प्रबंधकों ने इसके लिए हर समय पहिएदार कुर्सी भी उपलब्ध कराई है।

इस समूचे परिसर की सुरम्यता का आधार 72,000 वर्गफुट में फैला मनोहारी उद्यान होगा जिसके विकसित होने के बाद यह स्थल पवित्र तपोवन जैसा प्राकृतिक दृश्य उपस्थित कर सकेगा।

आचार्यश्री तुलसी शांति प्रतिष्ठान की ओर से निर्मित इस भव्य स्थल की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इस रूप में भी उल्लेखनीय है कि यह समूचा कार्य स्वतःस्फूर्त अर्थ विसर्जन से संभव हुआ है। पूरे परिसर में समाज का योगदान ही दृष्टिगत होता है, व्यक्ति विशेष दानदाता का नहीं।

इस परिसर की एक दूसरी विशेषता है बरसात के पानी को पारंपरिक रूप से संचयित करने की। बरसाती पानी के जल-संग्रहण के लिए ढाई लाख लीटर का जलाशय भी इसी परिसर में बनाया गया है। परिसर के एक भाग में भव्य मंच निर्मित किया गया है जिसके सामने विशाल खुले भूखंड पर हजारों लोगों के विराट सम्मेलन किए जा सकते हैं।

यह समूचा परिसर अपने इन विविध आकल्पों के कारण ऐसा प्रकर बन गया है कि आने वाले समय में एक उत्कृष्ट राष्ट्रीय निधि के रूप में इसकी पहचान स्थापित होगी। ❖

जैन भारती पाठक पहेली

जैन भारती के प्रति बढ़ती अभिरुचि को देखते हुए मार्च अंक से 'जैन भारती पाठक पहेली' शुरू की गई है। हमें आशा है, पाठकगण इसमें दिलचस्पी लेंगे और पाठकीय अभिरुचि का विकास करेंगे।—सं.

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के अक्टूबर, 2000 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के अक्टूबर अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 फरवरी, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम मार्च, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

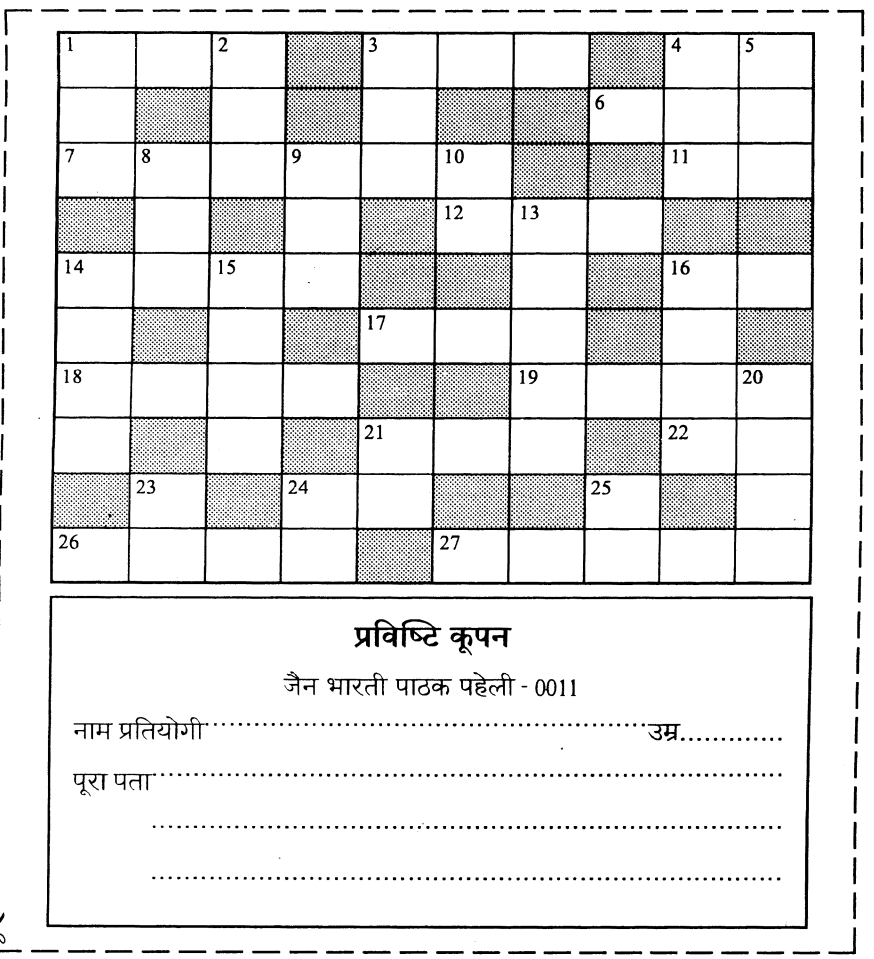

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली - 0011

नाम प्रतियोगी.....उम्र.....

पूरा पता.....

.....

.....

बाएं से दाएं

1. उस दशा में नैतिक आचरण.....से कराया जा सकता है। [3]
3. छमाही परीक्षा में.....प्रिंसिपल, इंजिनियरों, [3]
4. इससे दुख अपने.....अतिक्रांत होगा। [2]
6. इसी अभिग्रह-चेतना से आपका दीक्षा का मनोरथ भी..... हुआ। [3]
11. वह सम.....और श्रम स्वावलंबन या वैयक्तिकता के आधार पर टिकी हुई है [2]
12. सिद्धार्थ वणिक और.....वैद्य द्वारा शल्य-मुक्ति पाकर जब चला [3]
14. अपनी किसी एकमेव इयत्ता से वे स्वयं ही.....है [4]
16. .....शरीर से सर्वथा पृथक् हूं, [2]
17. .....मैं उपन्यास लौटाकर दूसरा उपन्यास लेना चाहता था [3]
18. किसी बुढ़िया की धुंधलाती याद में बची रह गई कोई नटखट..... [4]
19. वीरेन्द्र का उसके.....के कारण। [4]
21. .....की इच्छा और प्रकृति की जानकारी होनी चाहिए [3]
22. बादलों में उठते.....नवीन महलों की जादुई भीतरिमाओं, [2]
24. नाक.....काट लेता, जीभ निकाल लेता [2]
26. जिनको दूसरे लोग.....करते हैं [4]
27. सबके साथ शाश्वत जुड़ाव में जीने की.....साधना अब तक करता रहा [5]

ऊपर से नीचे

1. समस्त विश्वात्मा के हृदय में जैसे.....पड़ गई [3]
2. .....दोनों को एक साथ समाहित करती हैं [3]
3. वह सब.....घिसा-पिटा हो गया है। [3]
4. इच्छाएं.....के समान अनंत हैं। [3]
5. कितनी.....कातर भुजाएं, उफनाती गोदियां [3]
8. अपनी इस देह को तिल-तिल.....हो जाने दिया [3]
9. पर प्रसव की पीड़ा उसे ही.....करनी होती है [3]
10. .....शक्ति का विस्तार [2]
13. उसका.....करने के लिए वैज्ञानिक भूमिका उपलब्ध है [2,3]
14. व्यक्ति.....दुखों को आमंत्रित कर लेता है [4]
15. तलछट तक एक दूसरे को.....भी, [4]
16. व्यक्तित्व-निर्माण आदि क्षेत्रों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण..... दिए [4]
20. यह सयानी होती ढीली पड़ती त्वचा में.....सी कंपकंपी क्यों? [4]
21. .....लीजिए एक क्लर्क अपने मालिक द्वारा, [2]
23. मोह और.....के अपनयन के लिए व्यक्ति इन अभिग्रहों को धारण करता है [2]
24. इस प्रकार के.....से अपनी स्वाभाविक प्रेम भावना को पूरा करने का अवसर मिलता है [2]
25. यह प्रतिज्ञा.....विषयक अभिग्रह है। [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0009

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 पा	द	2 री		3 भ	र	4 त		5 अ	म्नि
र्थि		6 ज	ह	र		7 मा	न	व	
8 व	9 च	न		10 क	11 द	म		रो	
	र		12 प	र	म		13 स	ह	14 ज
15 अ	म	16 ल			17 न	18 ज	र		ल
ग		19 ग	र	20 म		21 न	का	र	
22 र	23 ह	ना		ग		24 क	र		
	र		25 शि	र	26 सा			27 म	28 त
29 ब	द	न			30 व	ज	न	दा	र
	म		31 ह	न	न			32 य	ह

प्रथम चयनित विजेता—गौतमचन्द हींगड़, होस कोंटे

अन्य दस चयनित विजेता

1. चंदा कोठारी, बालोतरा
2. अलका बाफना, केलवा
3. संगीता जैन, कालू
4. राजश्री भंसाली, अहमदाबाद
5. सोहनलाल दूगड़, इंदौर
6. वीना भांड़िया, जयपुर
7. अमृत पी. सेठिया, कोपल
8. मनोजकुमार चौपड़ा, कोपल
9. कनकप्रभा बैद, नोखा
10. कमलाकुमारी पीतलिया, उदयपुर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

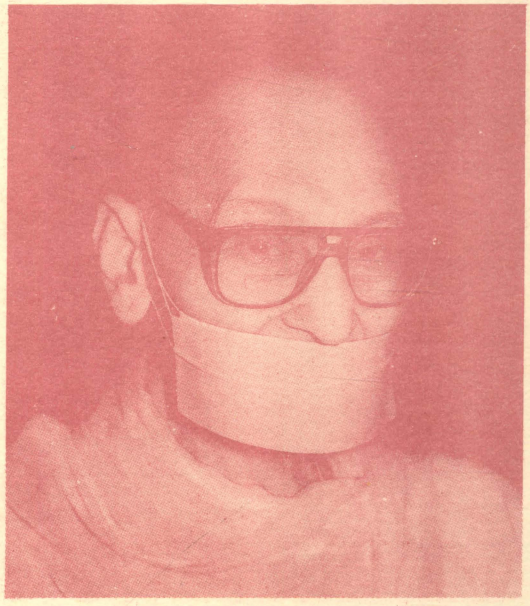

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

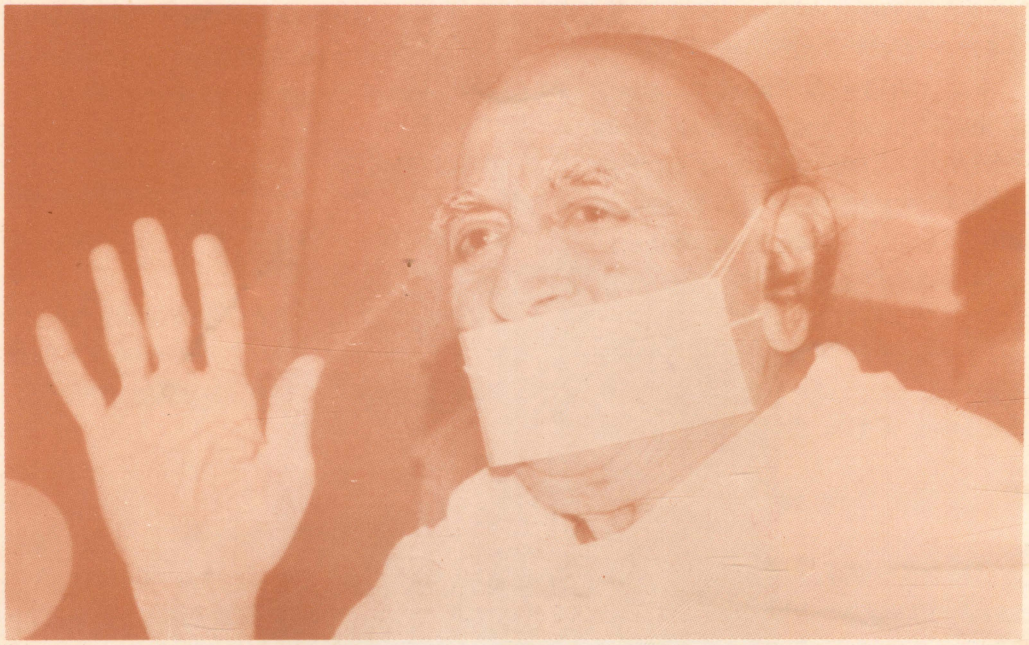

With best compliments from :

SUKHRAJ, BABULAL, TRIBHUVAN KUMAR
ASHOK KUMAR, RAMESH KUMAR SINGHAVI
ASADA-WALA (RAJ.)

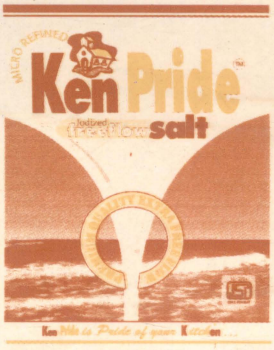

KENPRIDE IS PRIDE OF YOUR KITCHEN

TERAPANTH FOODS LTD.

(A FRIENDS GROUP OF COMPANY)

MANUFACTURERS AND EXPORTERS OF REFINED FREEFLOW IODISED SALT,
PURE GRADE INDUSTRIAL SALT AND ALL TYPES OF EDIBLE AND INDUSTRIAL GRADE SALTS.

REGD. OFFICE :
MAITRI BHAVAN, PLOT NO. 18, SECTOR-8
GANDHIDHAM 370201 GUJARAT (INDIA)
,Tel. : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687
e-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।